॥ श्रीहरिः ॥

291

आदर्श देवियाँ

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरिः ॥

आदर्श देवियाँ

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरिः ॥

निवेदन

भारतीय संस्कृति और उसके महान् आदर्श अवश्य अनुकरणीय और सदैव कल्याणकारी हैं। हमारे महापुरुषोंने ही नहीं, अपितु इस देशकी महान् नारियोंने भी अपने उत्तमोत्तम गुणों तथा आदर्श चरित्रोंके प्रकाशनद्वारा संसारको चमत्कृत किया है। अतः उन प्रातःस्मरणीया देवियोंके महान् चरित्र वन्दनीय और नारीमात्रके लिये प्रकाश-स्तम्भ—सच्चे मार्ग-दर्शक हैं।

प्रस्तुत पुस्तकमें भारतकी ऐसी ही चार महान् देवियोंके आदर्श चरित्रोंका वर्णन है, जो परम श्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखे गये हैं। ये महान् नारी-चरित्र वर्षों पहले समय-समयपर 'कल्याण' में प्रकाशित हो चुके हैं। तत्पश्चात् इस पुस्तकका मात्र प्रथम चरित्र—'सीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा'—नामसे अलग छोटी पुस्तकमें तथा शेष तीन चरित्र (कुन्ती, द्रौपदी और गान्धारी)—'तीन आदर्श देवियाँ' के नामसे कुछ समय पूर्व अलग पुस्तकरूपमें भी प्रकाशित हुए हैं। उपयोगिता और सुविधाकी दृष्टिसे उन चारों चरित्रोंको एकहीमें संकलित करके अब इसे पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया गया है। इन चारों आदर्श नारी-रत्नोंके उत्कृष्ट चरित्र निःसंदेह विशेष प्रेरणादायी और अवश्य पठनीय हैं।

यों तो पुस्तक सभीके लिये शिक्षाप्रद, ज्ञानवर्धक और उपयोगी है, किंतु माता-बहनों और बालिकाओंके लिये यह विशेषरूपसे परमोपयोगी है। उन्हें सुसंस्कार देनेवाला यह उत्कृष्ट मार्गदर्शन है। अतः इसके शिक्षाप्रद प्रेरणादायी चरित्रोंसे सभी श्रद्धालुजनों, प्रेमी पाठकों और विशेषतः महिलाओंको अधिकाधिक रूपसे विशेष लाभ उठाना चाहिये।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरि: ॥

विषय-सूची

❑ ❑

॥ श्रीहरिः ॥

आदर्श देवियाँ

श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि अखिल विश्वके स्त्री-चरित्रोंमें श्रीरामप्रिया जगज्जननी जानकीजीका चरित्र सबसे उत्कृष्ट है। रामायणके समस्त स्त्री-चरित्रोंमें तो सीताजीका चरित्र सर्वोत्तम, सर्वथा आदर्श और पद-पदपर अनुकरण करनेयोग्य है ही। भारत-ललनाओंके लिये सीताजीका चरित्र सन्मार्गपर चलनेके लिये पूर्ण मार्गदर्शक है। सीताजीके असाधारण पातिव्रत्य, त्याग, शील, अभय, शान्ति, क्षमा, सहनशीलता, धर्म-परायणता, नम्रता, सेवा, संयम, सद्व्यवहार, साहस, शौर्य आदि गुण एक साथ जगत्की विरली ही महिलामें मिल सकते हैं। श्रीसीताके पवित्र जीवन और अप्रतिम पातिव्रत्यधर्मके सदृश उदाहरण रामायणमें तो क्या जगत्के किसी भी इतिहासमें मिलने कठिन हैं। आरम्भसे लेकर अन्ततक सीताके जीवनकी सभी बातें—केवल एक प्रसंगको छोड़कर—पवित्र और आदर्श हैं। ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे हमारी माँ-बहिनोंको सत्-शिक्षा न मिले। संसारमें अबतक जितनी स्त्रियाँ हो चुकी हैं, श्रीसीताको पातिव्रत्य-धर्ममें सर्वशिरोमणि कहा जा सकता है। किसी भी ऊँची-से-ऊँची स्त्रीके चरित्रकी सूक्ष्म आलोचना करनेसे ऐसी एक-न-एक बात मिल ही सकती है जो अनुकरणके योग्य न हो, परन्तु सीताका ऐसा कोई भी आचरण नहीं मिलता।

जिस एक प्रसंगको सीताके जीवनमें दोषयुक्त समझा जाता है वह है मायामृगको पकड़नेके लिये श्रीरामके चले जाने और मारीचके मरते समय 'हा सीते! हा लक्ष्मण!' की पुकार करनेपर सीताजीका घबड़ाकर लक्ष्मणके प्रति यह कहना कि 'मैं समझती हूँ कि तू मुझे पानेके लिये अपने बड़े भाईकी मृत्यु देखना चाहता है। मेरे लोभसे ही तू अपने भाईकी रक्षा करनेको नहीं जाता।' इस बर्तावके लिये सीताने आगे चलकर बहुत पश्चात्ताप किया। साधारण स्त्री-चरित्रमें सीताजीका यह बर्ताव कोई विशेष दोषयुक्त नहीं है। स्वामीको संकटमें पड़े हुए समझकर आतुरता और प्रेमकी बाहुल्यतासे सीताजी यहाँपर नीतिका उल्लंघन कर गयी थीं। श्रीराम-सीताका अवतार मर्यादाकी रक्षाके लिये था, इसीसे सीताजीकी यह एक गलती समझी गयी और इसीलिये सीताजीने पश्चात्ताप किया था।

नैहरमें प्रेम-व्यवहार

जनकपुरमें पिताके घर सीताजीका सबके साथ बड़े प्रेमका बर्ताव था। छोटे-बड़े सभी स्त्री-पुरुष सीताजीको हृदयसे चाहते थे। सीताजी आरम्भसे ही सलज्जा थीं। लज्जा ही स्त्रियोंका भूषण है। वे प्रतिदिन माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया करती थीं, घरके नौकर-चाकरतक उनके व्यवहारसे परम प्रसन्न थे। सीताजीके प्रेमके बर्तावका कुछ दिग्दर्शन उस समयके वर्णनसे मिलता है, जिस समय वे ससुरालके लिये विदा हो रही हैं—

पुनि धीरजु धरि कुअँरि हँकारीं। बार बार भेटहिं महतारीं॥
पहुँचावहिं फिरि मिलहिं बहोरी। बढ़ी परस्पर प्रीति न थोरी॥
पुनि पुनि मिलत सखिन्ह बिलगाई। बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई॥

प्रेम बिबस नर नारि सब सखिन्ह सहित रनिवासु।
मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुनाँ बिरहँ निवासु॥
सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाए॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरइ न केही॥
भए बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसें कहि जाती॥
बंधु समेत जनकु तब आए। प्रेम उमगि लोचन जल छाए॥
सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥
लीन्हि रायँ उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ग्यान की॥

जहाँ ज्ञानियोंके आचार्य जनकके ज्ञानकी मर्यादा मिट जाती है और पिंजरेके पखेरू तथा पशु-पक्षी भी 'सीता! सीता!!' पुकारकर व्याकुल हो उठते हैं, वहाँ कितना प्रेम है, इस बातका अनुमान पाठक कर लें! सीताके इस चरित्रसे स्त्रियोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि स्त्रीको नैहरमें छोटे-बड़े सभीके साथ ऐसा बर्ताव करना उचित है जो सभीको प्रिय हो।

माता-पिताका आज्ञा-पालन

सीता अपने माता-पिताकी आज्ञा-पालन करनेमें कभी नहीं चूकती थी। माता-पितासे उसे जो कुछ शिक्षा मिलती, उसपर वह बड़ा अमल करती थी। मिथिलासे विदा होते समय और चित्रकूटमें सीताजीको माता-पितासे जो कुछ शिक्षा मिली है, वह स्त्रीमात्रके लिये पालनीय है—

होएहु संतत पियहि पिआरी। चिरु अहिबात असीस हमारी॥
सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥

पति-सेवाके लिये प्रेमाग्रह

श्रीरामको राज्याभिषेकके बदले यकायक वनवास हो गया।

सीताजीने यह समाचार सुनते ही तुरन्त अपना कर्तव्य निश्चय कर लिया। नैहर-ससुराल, गहने-कपड़े, राज्य-परिवार, महल-बाग, दास-दासी और भोग-राग आदिसे कुछ मतलब नहीं। छायाकी तरह पतिके साथ रहना ही पत्नीका एकमात्र कर्तव्य है। इस निश्चयपर आकर सीताने श्रीरामके साथ वनगमनके लिये जैसा कुछ व्यवहार किया है, वह परम उज्ज्वल और अनुकरणीय है। श्रीसीताजीने प्रेमपूर्ण विनय और हठसे वनगमनके लिये पूरी कोशिश की। साम, दाम, नीति—सभी वैध उपायोंका अवलम्बन किया और अन्तमें वह अपने प्रयत्नमें सफल हुईं। उनका ध्येय था किसी भी उपायसे वनमें पतिके साथ रहकर पतिकी सेवा करना। उसीको वह परम धर्म समझती थीं। इसीमें उन्हें परम आनन्दकी प्राप्ति होती थी। वे कहती हैं—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोगसम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥

वनके नाना क्लेशों और कुटुम्बके साथ रहनेके नाना प्रलोभनोंको सुनकर भी सीता अपने निश्चयपर अडिग रहती हैं। वे पति-सेवाके सामने सब कुछ तुच्छ समझती हैं।

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

यहाँपर यह सिद्ध होता है कि सीताजीने एक बार प्राप्त हुई पति-आज्ञाको बतलाकर दूसरी बार अपने मनोनुकूल आज्ञा प्राप्त करनेके लिये प्रेमाग्रह किया। यहाँतक कि जब भगवान्

श्रीराम किसी प्रकार भी नहीं माने तो हृदय विदीर्ण हो जानेतकका संकेत कर दिया—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

अध्यात्मरामायणके अनुसार तो श्रीसीताजीने यहाँतक स्पष्ट कह दिया कि—

रामायणानि बहुशः श्रुतानि बहुभिर्द्विजैः॥
सीतां विना वनं रामो गतः किं कुत्रचिद्वद।
अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी॥
यदि गच्छसि मां त्यक्त्वा प्राणांस्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः।

(अ० रा० २।४।७७—७९)

'मैंने भी ब्राह्मणोंके द्वारा रामायणकी अनेक कथाएँ सुनी हैं। कहीं भी ऐसा कहा गया हो तो बतलाइये कि किसी भी रामावतारमें श्रीराम सीताको अयोध्यामें छोड़कर वन गये हैं। इस बार ही यह नयी बात क्यों होती है ? मैं आपकी सेविका बनकर साथ चलूँगी। यदि किसी तरह भी आप मुझे नहीं ले चलेंगे तो मैं आपके सामने ही प्राण त्याग दूँगी।' पतिसेवाकी कामनासे सीताने इस प्रकार स्पष्टरूपसे अवतार-विषयक अपनी बड़ाईके शब्द भी कह डाले।

वाल्मीकिरामायणके अनुसार सीताजीके अनेक रोने, गिड़गिड़ाने, विविध प्रार्थना करने और प्राणत्यागपूर्वक परलोकमें पुनः मिलन होनेका निश्चय बतलानेपर भी जब श्रीराम उन्हें साथ ले जानेको राजी नहीं हुए तब उनको बड़ा दुःख हुआ और वे प्रेमकोपमें आँखोंसे गर्म-गर्म आँसुओंकी धारा बहाती हुई नीतिके नाते इस प्रकार कुछ कठोर वचन भी कह गयीं कि—'हे देव!

आप-सरीखे आर्य पुरुष मुझ-जैसी अनुरक्त, भक्त, दीन और सुख-दुःखको समान समझनेवाली सहधर्मिणीको अकेली छोड़कर जानेका विचार करें यह आपको शोभा नहीं देता। मेरे पिताने आपको पराक्रमी और मेरी रक्षा करनेमें समर्थ समझकर ही अपना दामाद बनाया था।' इस कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीराम लड़कपनसे अत्यन्त श्रेष्ठ पराक्रमी समझे जाते थे। इस प्रसंगमें श्रीवाल्मीकिजी और गोस्वामी तुलसीदासजीने सीता-रामके सम्वादमें जो कुछ कहा है सो प्रत्येक स्त्री-पुरुषके ध्यानपूर्वक पढ़ने और मनन करनेयोग्य है।

सीताजीके प्रेमकी विजय हुई, श्रीरामने उन्हें साथ ले चलना स्वीकार किया। इस कथानकसे यह सिद्ध होता है कि पत्नीको पतिसेवाके लिये—अपने सुखके लिये नहीं—पतिकी आज्ञाको दुहरानेका अधिकार है। वह प्रेमसे पति-सुखके लिये ऐसा कर सकती है। सीताने तो यहाँतक कह दिया था 'यदि आप आज्ञा नहीं देंगे तब भी मैं तो साथ चलूँगी।' सीताजीके इस प्रेमाग्रहकी आजतक कोई भी निन्दा नहीं करता, क्योंकि सीता केवल पतिप्रेम और पति-सेवाहीके लिये समस्त सुखोंको तिलांजलि देकर वन जानेको तैयार हुई थी, किसी इन्द्रिय-सुखरूप स्वार्थ-साधनके लिये नहीं! इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सीताका व्यवहार अनुचित या पातिव्रत-धर्मसे विरुद्ध था। स्त्रीको धर्मके लिये ही ऐसा व्यवहार करनेका अधिकार है। इससे पुरुषोंको भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सहधर्मिणी पतिव्रता पत्नीकी बिना इच्छा उसे त्यागकर अन्यत्र चले जाना अनुचित है। इसी प्रकार स्त्रीको भी पति-सेवा और पति-सुखके लिये उसके साथ

ही रहना चाहिये। पतिके विरोध करनेपर भी कष्ट और आपत्तिके समय पति-सेवाके लिये स्त्रीको उसके साथ रहना उचित है। अवश्य ही अवस्था देखकर कार्य करना चाहिये। सभी स्थितियोंमें सबके लिये एक-सी व्यवस्था नहीं हो सकती। सीताने भी अपनी साधुताके कारण सभी समय इस अधिकारका उपयोग नहीं किया था।

पति-सेवामें सुख

वनमें जाकर सीता पति-सेवामें सब कुछ भूलकर सब तरह सुखी रहती है! उसे राज-पाट, महल-बगीचे, धन-दौलत और दास-दासियोंकी कुछ भी स्मृति नहीं होती। रामको वनमें छोड़कर लौटा हुआ सुमन्त सीताके लिये विलाप करती हुई माता कौसल्यासे कहता है—'सीता निर्जन वनमें घरकी भाँति निर्भय होकर रहती है, वह श्रीराममें मन लगाकर उनका प्रेम प्राप्त कर रही है। वनवाससे सीताको कुछ भी दुःख नहीं हुआ, मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि (श्रीरामके साथ) सीता वनवासके सर्वथा योग्य है। चन्द्रानना सती सीता जैसे पहले यहाँ बगीचोंमें जाकर खेलती थी, वैसे ही वहाँ निर्जन वनमें भी वह श्रीरामके साथ बालिकाके समान खेलती है। सीताका मन राममें है, उसका जीवन श्रीरामके अधीन है, अतएव श्रीरामके साथ सीताके लिये वन ही अयोध्या है और श्रीरामके बिना अयोध्या ही वन है।' धन्य पातिव्रत्य! धन्य!

सास-सेवा

सीता पति-सेवाके लिये वन गयी; परन्तु उसको इस बातका बड़ा क्षोभ रहा कि सासुओंकी सेवासे उसे अलग होना पड़ रहा है। सीता सासके पैर छूकर सच्चे मनसे रोती हुई कहती है—

× × × × × । सुनिअ माय मैं परम अभागी॥
सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा॥
तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू। करमु कठिन कछु दोसु न मोहू॥

सास-पतोहूका यह व्यवहार आदर्श है। भारतीय ललनाएँ यदि आज कौसल्या और सीताका-सा व्यवहार करना सीख जायँ तो भारतीय गृहस्थ सब प्रकारसे सुखी हो जायँ। सास अपनी बधुओंको सुखी देखनेके लिये व्याकुल रहें और बहुएँ सासकी सेवाके लिये छटपटावें तो दोनों ओर ही सुखका साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

सहिष्णुता

सीताकी सहिष्णुताका एक उदाहरण देखिये। वनगमनके समय जब कैकेयी सीताको वनवासके योग्य वस्त्र पहननेके लिये कहती है तब वसिष्ठ-सरीखे महर्षिका मन भी क्षुब्ध हो उठता है, परन्तु सीता इस कथनको केवल चुपचाप सुन ही नहीं लेती, आज्ञानुसार वह वस्त्र धारण भी कर लेती है। इस प्रसंगसे भी यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि सास या उसके समान नातेमें अपनेसे बड़ी कोई भी स्त्री जो कुछ कहे या बर्ताव करे, उसको खुशीके साथ सहन करना चाहिये और कभी पतिके साथ विदेश जाना पड़े तो सच्चे हृदयसे सासुओंको प्रणाम कर, उन्हें सन्तोष करवाकर सेवासे वंचित होनेके लिये हार्दिक पश्चात्ताप करते हुए जाना चाहिये। इससे बधुओंको सासुओंका आशीर्वाद आप ही प्राप्त होगा।

निरभिमानता

सीता अपने समयमें लोकप्रसिद्ध पतिव्रता थीं, उन्हें कोई

पातिव्रत्यका क्या उपदेश करता? परन्तु सीताको अपने पातिव्रत्यका कोई अभिमान नहीं था। अनसूयाजीके द्वारा किया हुआ पातिव्रत्यधर्मका उपदेश सीता बड़े आदरके साथ सुनती हैं और उनके चरणोंमें प्रणाम करती हैं। उनके मनमें यह भाव नहीं आता कि मैं सब कुछ जानती हूँ। बल्कि अनसूयाजी ही उनसे कहती हैं—

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित॥

इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि अपनेसे बड़े-बूढ़े जो कुछ उपदेश दें उसे अभिमान छोड़कर आदर और सम्मानके साथ सुनना चाहिये एवं यथासाध्य उसके अनुसार चलना चाहिये।

गुरुजन-सेवा और मर्यादा

बड़ोंकी सेवा और मर्यादामें सीताका मन कितना लगा रहता था, इस बातको समझनेके लिये महाराज जनककी चित्रकूट-यात्राके प्रसंगको याद कीजिये। भरतके वन जानेपर राजा जनक भी रामसे मिलनेके लिये चित्रकूट पहुँचते हैं। सीताकी माता श्रीरामकी माताओंसे—सीताकी सासुओंसे मिलती हैं और सीताको साथ लेकर अपने डेरेपर आती हैं। सीताको तपस्विनीके वेषमें देखकर सबको विषाद होता है, पर महाराज जनक अपनी पुत्रीके इस आचरणपर बड़े ही सन्तुष्ट होते हैं और कहते हैं—

पुत्रि पबित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ॥

माता-पिता बड़े प्रेमसे हृदयसे लगाकर अनेक प्रकारकी सीख और आसीस देते हैं। बात करते-करते रात अधिक हो जाती है। सीता मनमें सोचती है कि सासुओंकी सेवा छोड़कर इस

अवस्थामें रातको यहाँ रहना अनुचित है, किन्तु स्वभावसे ही लज्जाशीला सीता संकोचवश मनकी बात माँ-बापसे कह नहीं सकती—

कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनीं भल नाहीं॥

चतुर माता सीताके मनका भाव जान लेती है और सीताके शील-स्वभावकी मन-ही-मन सराहना करते हुए माता-पिता सीताको कौसल्याके डेरेमें भेज देते हैं। इस प्रसंगसे भी स्त्रियोंको सेवा और मर्यादाकी शिक्षा लेनी चाहिये।

निर्भयता

सीताका तेज और उसकी निर्भयता देखिये। जिस दुर्दान्त रावणका नाम सुनकर देवता भी काँपते थे, उसीको सीता निर्भयताके साथ कैसे-कैसे वचन कहती थी। रावणके हाथोंमें पड़ी हुई सीता अति क्रोधसे उसका तिरस्कार करती हुई कहती है—'अरे दुष्ट निशाचर ! तेरी आयु पूरी हो गयी है, अरे मूर्ख ! तू श्रीरामचन्द्रकी सहधर्मिणीको हरणकर प्रज्वलित अग्निके साथ कपड़ा बाँधकर चलना चाहता है। तुझमें और रामचन्द्रमें उतना ही अन्तर है जितना सिंह और सियारमें, समुद्र और नालेमें, अमृत और काँजीमें, सोने और लोहेमें, चन्दन और कीचड़में, हाथी और बिलावमें, गरुड़ और कौवेमें तथा हंस और गीधमें होता है। मेरे अमित प्रभाववाले स्वामीके रहते हुए तू मुझे हरण करेगा तो जैसे मक्खी घीके पीते ही मृत्युके वश हो जाती है, वैसे ही तू भी कालके गालमें चला जायगा।' इससे यह सीखना चाहिये कि परमात्माके बलपर किसी भी अवस्थामें मनुष्यको डरना उचित नहीं। अन्यायका प्रतिवाद निर्भयताके साथ करना

चाहिये। परमात्माके बलका सच्चा भरोसा होगा तो रावणका वध करके सीताको उसके चंगुलसे छुड़ानेकी भाँति भगवान् हमें भी विपत्तिसे छुड़ा लेंगे।

धर्मके लिये प्राण-त्यागकी तैयारी

विपत्तिमें पड़कर भी कभी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। इस विषयमें सीताका उदाहरण सर्वोत्तम है। लंकाकी अशोक-वाटिकामें सीताका धर्म नाश करनेके लिये दुष्ट रावणकी ओरसे कम चेष्टाएँ नहीं हुईं। राक्षसियोंने सीताको भय और प्रलोभन दिखलाकर बहुत ही तंग किया, परन्तु सीता तो सीता ही थी। धर्मत्यागका प्रश्न तो वहाँ उठ ही नहीं सकता, सीताने तो छलसे भी अपने बाहरी बर्तावमें भी विपत्तिसे बचनेके हेतु कभी दोष नहीं आने दिया। उसके निर्मल और धर्मसे परिपूर्ण मनमें कभी बुरी स्फुरणा ही नहीं आ सकी। अपने धर्मपर अटल रहती हुई सीता दुष्ट रावणका सदा तीव्र और नीतियुक्त शब्दोंमें तिरस्कार ही करती रही। एक बार रावणके वाग्बाणोंको न सह सकनेके समय और रावणके द्वारा मायासे श्रीराम-लक्ष्मणको मरे हुए दिखला देनेके कारण वह मरनेको तैयार हो गयीं, परन्तु धर्मसे डिगनेकी भावना स्वप्नमें भी कभी उनके मनमें नहीं उठी। वे दिन-रात भगवान् श्रीरामके चरणोंके ध्यानमें लगी रहती थीं। सीताने श्रीरामको हनुमान्‌के द्वारा जो सन्देश कहलाया, उससे पता लग सकता है कि उसकी कैसी पवित्र स्थिति थी—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

इससे स्त्रियोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि

पतिके वियोगमें भीषण आपत्तियाँ आनेपर भी पतिके चरणोंका ध्यान रहे। मनमें भगवान्‌के बलपर पूरी वीरता, धीरता और तेज रहे। स्वधर्मके पालनमें प्राणोंकी भी आहुति देनेको सदा तैयार रहे। धर्म जाकर प्राण रहनेमें कोई लाभ नहीं, परन्तु प्राण जाकर धर्म रहनेमें ही कल्याण है—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः।**' (गीता ३। ३५)

सावधानी

सीताजीकी सावधानी देखिये। जब हनुमान्‌जी अशोक-वाटिकामें सीताके पास जाते हैं, तब सीता अपने बुद्धि-कौशलसे सब प्रकार उनकी परीक्षा करती है। जबतक उसे यह विश्वास नहीं हो जाता कि हनुमान् वास्तवमें श्रीरामचन्द्रके दूत हैं, शक्तिसम्पन्न हैं और मेरी खोजमें ही यहाँ आये हैं तबतक खुलकर बात नहीं करती है।

दाम्पत्य-प्रेम

जब पूरा विश्वास हो जाता है तब पहले स्वामी और देवरकी कुशल पूछती है, फिर आँसू बहाती हुई करुणापूर्ण शब्दोंमें कहती है—'हनुमन्! रघुनाथजीका चित्त तो बड़ा ही कोमल है। कृपा करना तो उनका स्वभाव ही है। फिर मुझसे वह इतनी निष्ठुरता क्यों कर रहे हैं? वह तो स्वभावसे ही सेवकको सुख देनेवाले हैं, फिर मुझे उन्होंने क्यों बिसार दिया है? क्या श्रीरघुनाथजी कभी मुझे याद भी करते हैं? हे भाई! कभी उस श्यामसुन्दरके कोमल मुखकमलको देखकर मेरी ये आँखें शीतल होंगी? अहो! नाथने मुझको बिलकुल भुला दिया!' इतना कहकर सीता रोने लगी, उसकी वाणी रुक गयी!!

बचनु न आव नयन भरे बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥

इसके बाद हनुमान्‌जीने जब श्रीरामका प्रेम-सन्देश सुनाते हुए यह कहा कि माता! श्रीरामका प्रेम तुमसे दुगुना है। उन्होंने कहलवाया है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

'तब यह सुनकर सीता गद्‌गद हो जाती हैं। श्रीसीता-रामका परस्पर कैसा आदर्श प्रेम है ! जगत्‌के स्त्री-पुरुष यदि इस प्रेमको आदर्श बनाकर परस्पर ऐसा ही प्रेम करने लगें तो गृहस्थ सुखमय बन जाय।

पर-पुरुषसे परहेज

सीताजीने जयन्तकी घटना याद दिलाते हुए कहा कि— 'हे कपिवर! तू ही बता, मैं इस अवस्थामें कैसे जी सकती हूँ? शत्रुको तपानेवाले श्रीराम-लक्ष्मण समर्थ होनेपर भी मेरी सुधि नहीं लेते, इससे मालूम होता है अभी मेरा दुःखभोग शेष नहीं हुआ है।' यों कहते-कहते जब सीताके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी, तब हनुमान्‌ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि— 'माता! कुछ दिन धीरज रखो। शत्रुओंके संहार करनेवाले कृतात्मा श्रीराम और लक्ष्मण थोड़े ही समयमें यहाँ आकर रावणका वध कर तुम्हें अवधपुरीमें ले जायँगे। तुम चिन्ता न करो। यदि तुम्हारी विशेष इच्छा हो और मुझे आज्ञा दो तो मैं भगवान् श्रीरामकी और तुम्हारी दयासे रावणका वध कर और लंकाको नष्टकर तुमको प्रभु श्रीरामचन्द्रके समीप ले जा सकता हूँ। अथवा हे देवि! तुम मेरी पीठपर बैठ जाओ, मैं आकाशमार्गसे होकर महासागरको लाँघ जाऊँगा। यहाँके राक्षस

मुझे नहीं पकड़ सकेंगे। मैं शीघ्र ही तुम्हें प्रभु श्रीरामचन्द्रके समीप ले जाऊँगा।' हनुमान्‌के वचन सुनकर उनके बल-पराक्रमकी परीक्षा लेनेके बाद सीता कहने लगी—'हे वानरश्रेष्ठ ! पति-भक्तिका सम्यक् पालन करनेवाली मैं अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रको छोड़कर स्वेच्छासे किसी भी अन्य पुरुषके अंगका स्पर्श करना नहीं चाहती—

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥

(वा० रा० ५। ३७। ६२)

'दुष्ट रावणने बलात् हरण करनेके समय मुझको स्पर्श किया था, उस समय तो मैं पराधीन थी, मेरा कुछ भी वश नहीं चलता था। अब तो श्रीराम स्वयं यहाँ आवें और राक्षसोंसहित रावणका वध करके मुझे अपने साथ ले जायँ, तभी उनकी ज्वलन्त कीर्तिकी शोभा है।'

भला विचारिये, हनुमान्-सरीखा सेवक, जो सीताजीको सच्चे हृदयसे मातासे बढ़कर समझता है और सीता-रामकी भक्ति करना ही अपने जीवनका परम ध्येय मानता है, सीता पातिव्रत्यधर्मकी रक्षाके लिये, इतने घोर विपत्तिकालमें अपने स्वामीके पास जानेके लिये भी उसका स्पर्श नहीं करना चाहती। कैसा अद्भुत धर्मका आग्रह है। इससे यह सीखना चाहिये कि भारी आपत्तिके समय भी स्त्रीको यथासाध्य परपुरुषके अंगोंका स्पर्श नहीं करना चाहिये।

वियोगमें व्याकुलता

भगवान् श्रीराममें सीताका कितना प्रेम था और उनसे मिलनेके

लिये उसके हृदयमें कितनी अधिक व्याकुलता थी, इस बातका कुछ पता हरणके समयसे लेकर लंका-विजयतकके सीताके विविध वचनोंसे लगता है, उस प्रसंगको पढ़ते-पढ़ते ऐसा कौन है जिसका हृदय करुणासे न भर जाय? परंतु सीताजीकी सच्ची व्याकुलताका सबसे बढ़कर प्रमाण तो यह है कि श्रीरघुनाथजी महाराज उसके लिये विरहव्याकुल स्त्रैण मनुष्यकी भाँति विह्वल होकर उन्मत्तवत् रोते और विलाप करते हुए ऋषिकुमारों, सूर्य, पवन, पशु-पक्षी, जड वृक्ष-लताओंसे सीताका पता पूछते फिरते हैं—

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन्।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा शंसस्व मे शोकहतस्य सर्वम्॥
लोकेषु सर्वेषु न नास्ति किञ्चिद्यत्ते न नित्यं विदितं भवेत्तत्।
शंसस्व वायो कुलपालिनीं तां मृता हृता वा पथि वर्तते वा॥

(वा० रा० ३। ६३। १६-१७)

'लोकोंके कृत्याकृत्यको जाननेवाले हे सूर्यदेव! तू सत्य और असत्य कर्मोंका साक्षी है। मेरी प्रियाको कोई हर ले गया है या वह कहीं चली गयी है, इस बातको तू भलीभाँति जानता है। अतएव मुझ शोकपीड़ितको सारा हाल बतला। हे वायुदेव! तीनों लोकोंमें तुझसे कुछ भी छिपा नहीं है, तेरी सर्वत्र गति है। हमारे कुलकी मर्यादाकी रक्षा करनेवाली सीता मर गयी, हरी गयी या कहीं मार्गमें भटक रही है, जो कुछ हो सो यथार्थ कह।'

हा गुन खानि जानकी सीता। रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥
लछिमन समुझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती॥
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

× × × ×

एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहुँ महा बिरही अति कामी॥

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान् श्रीराम 'महाविरही और अतिकामी' थे। सीताजीका श्रीरामके प्रति इतना प्रेम था और वह उनके लिये इतनी व्याकुल थीं कि श्रीरामको भी वैसा ही बर्ताव करना पड़ा। भगवान्‌का यह प्रण है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

श्रीरामने 'महाविरही और अतिकामी' के सदृश लीलाकर इस सिद्धान्तको चरितार्थ कर दिया। इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि हम भगवान्‌को पानेके लिये व्याकुल होंगे तो भगवान् भी हमारे लिये वैसे ही व्याकुल होंगे। अतएव हम सबको परमात्माके लिये इसी प्रकार व्याकुल होना चाहिये।

अग्नि-परीक्षा

रावणका वध हो गया, प्रभु श्रीरामकी आज्ञासे सीताको स्नान करवाकर और वस्त्राभूषण पहनाकर विभीषण श्रीरामके पास लाते हैं। बहुत दिनोंके बाद प्रिय पति श्रीरघुवीरके पूर्णिमाके चन्द्रसदृश मुखको देखकर सीताका सारा दुःख नाश हो गया और उसका मुख निर्मल चन्द्रमाकी भाँति चमक उठा। परन्तु श्रीरामने यह स्पष्ट कह दिया—'मैंने अपने कर्तव्यका पालन किया। रावणका वधकर तुझको दुष्टके चंगुलसे छुड़ाया, परन्तु तू रावणके घरमें रह चुकी है, रावणने तुझको बुरी नजरसे देखा है, अतएव अब मुझे तेरी आवश्यकता नहीं। तू अपने इच्छानुसार चाहे जहाँ चली जा। मैं तुझे ग्रहण नहीं कर सकता।'

नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति।

(वा० रा० ६। ११५। २१)

श्रीरामके इन अश्रुतपूर्व कठोर और भयंकर वचनोंको सुनकर दिव्य सती सीताकी जो कुछ दशा हुई उसका वर्णन नहीं हो सकता। स्वामीके वचन-बाणोंसे सीताके समस्त अंगोंमें भीषण घाव हो गये। वह फूट-फूटकर रोने लगी। फिर करुणाको भी करुणा-सागरमें डुबो देनेवाले शब्दोंमें उसने धीरे-धीरे गद्गद वाणीसे कहा—

'हे स्वामी ! आप साधारण मनुष्योंकी भाँति मुझे क्यों ऐसे कठोर और अनुचित शब्द कहते हैं ? मैं अपने शीलकी शपथ करके कहती हूँ कि आप मुझपर विश्वास रखें। हे प्राणनाथ ! रावणने हरण करनेके समय जब मेरे शरीरका स्पर्श किया था, तब मैं परवश थी। इसमें तो दैवका ही दोष है। यदि आपको यही करना था तो हनुमान्‌को जब मेरे पास भेजा था तभी मेरा त्याग कर दिये होते तो अबतक मैं अपने प्राण ही छोड़ देती !' श्रीसीताजीने बहुत-सी बातें कहीं, परन्तु श्रीरामने कोई जवाब नहीं दिया, तब वे दीनता और चिन्तासे भरे हुए लक्ष्मणसे बोलीं—'हे सौमित्रे ! ऐसे मिथ्यापवादसे कलंकित होकर मैं जीना नहीं चाहती। मेरे दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम यहीं अग्नि-चिता तैयार कर दो। मेरे प्रिय पतिने मेरे गुणोंसे अप्रसन्न होकर जनसमुदायके मध्य मेरा त्याग किया है, अब मैं अग्निप्रवेश करके इस जीवनका अन्त करना चाहती हूँ।' वैदेही सीताके वचन सुनकर लक्ष्मणने कोपभरी लाल-लाल आँखोंसे एक बार श्रीरामचन्द्रकी ओर देखा, परन्तु रामकी रुचिके अधीन रहनेवाले लक्ष्मणने आकार और संकेतसे श्रीरामका रुख समझकर उनके इच्छानुसार चिता तैयार कर दी। सीताने प्रज्वलित अग्निके पास जाकर

देवता और ब्राह्मणोंको प्रणामकर दोनों हाथ जोड़कर कहा—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥

(वा० रा० ६। ११६। २५-२६)

'हे अग्निदेव ! यदि मेरा मन कभी भी श्रीरामचन्द्रजीसे चलायमान न हुआ हो तो तुम मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो। श्रीरघुनाथजी महाराज मुझ शुद्ध चरित्रवाली या दुष्टाको जिस प्रकार यथार्थ जान सकें वैसे ही मेरी सब प्रकारसे रक्षा करो, क्योंकि तुम सब लोकोंके साक्षी हो।' इतना कहकर अग्निकी प्रदक्षिणा कर सीता निःशंक हृदयसे अग्निमें प्रवेश कर गयीं। सब ओर हाहाकार मच गया। ब्रह्मा, शिव, कुबेर, इन्द्र, यमराज और वरुण आदि देवता आकर श्रीरामको समझाने लगे। ब्रह्माजीने बहुत कुछ रहस्यकी बातें कहीं।

इतनेमें सर्वलोकोंके साक्षी भगवान् अग्निदेव सीताको गोदमें लेकर अकस्मात् प्रकट हो गये और वैदेहीको श्रीरामके प्रति अर्पण करते हुए बोले—

एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते॥
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्‌ध्या न चक्षुषा।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्यं न त्वामत्यचरच्छुभा॥
रावणेनापनीतैषा वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती॥
क्रुद्धा चान्तःपुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा।

रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरबुद्धिभिः॥
प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमाना च मैथिली।
नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गतेनान्तरात्मना॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम्।
न किञ्चिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते॥

(वा० रा० ६। ११८। ५—१०)

'हे राम! इस अपनी वैदेही सीताको ग्रहण करो। इसमें कोई भी पाप नहीं है। हे चरित्राभिमानी राम! इस शुभलक्षणा सीताने वाणी, मन, बुद्धि या नेत्रोंसे कभी तुम्हारा उल्लंघन नहीं किया। निर्जन वनमें जब तुम इसके पास नहीं थे, तब यह बेचारी निरुपाय और विवश थी। इसीसे बलगर्वित रावण इसे बलात् हर ले गया था। यद्यपि इसको अन्तःपुरमें रखा गया था और क्रूर-से-क्रूर स्वभाववाली राक्षसियाँ पहरा देती थीं, अनेक प्रकारके प्रलोभन दिये जाते थे और तिरस्कार भी किया जाता था, परन्तु तुम्हारेमें मन लगानेवाली, तुम्हारे परायण हुई सीताने तुम्हारे सिवा दूसरेका कभी मनसे विचार ही नहीं किया। इसका अन्तःकरण शुद्ध है, यह निष्पाप है, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ, तुम किसी प्रकारकी भी शंका न करके इसको ग्रहण करो।'

अग्निदेवके वचन सुनकर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए, उनके नेत्र हर्षसे भर आये और उन्होंने कहा—

'हे अग्निदेव! इस प्रकार सीताकी शुद्धि आवश्यक थी, मैं यों ही ग्रहण कर लेता तो लोग कहते कि दशरथपुत्र राम मूर्ख और कामी है। (कुछ लोग सीताके शीलपर भी सन्देह करते, जिससे उसका गौरव घटता, आज इस अग्निपरीक्षासे सीताका और मेरा दोनोंका मुख उज्ज्वल हो गया है) मैं जानता हूँ कि

जनकनन्दिनी सीता अनन्यहृदया और सर्वदा मेरे इच्छानुसार चलनेवाली है। जैसे समुद्र अपनी मर्यादाका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भी अपने तेजसे मर्यादामें रहनेवाली है। दुष्टात्मा रावण प्रदीप्त अग्निकी ज्वालाके समान अप्राप्त इस सीताका स्पर्श नहीं कर सकता था। सूर्य-कान्तिसदृश सीता मुझसे अभिन्न है। जैसे आत्मवान् पुरुष कीर्तिका त्याग नहीं कर सकता, उसी प्रकार मैं भी तीनों लोकोंमें विशुद्ध इस सीताका वास्तवमें कभी त्याग नहीं कर सकता।'

इतना कहकर भगवान् श्रीराम प्रिया सती सीताको ग्रहणकर आनन्दमें निमग्न हो गये। इस प्रसंगसे यह सीखना चाहिये कि स्त्री किसी भी हालतमें पतिपर नाराज न हो और उसे संतोष करानेके लिये न्याययुक्त उचित चेष्टा करे।

गृहस्थ-धर्म

सीता अपने स्वामी और देवरके साथ अयोध्या लौट आती है। बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों और सभी सासुओंके चरणोंमें प्रणाम करती है। सब ओर सुख छा जाता है। अब सीता अपनी सासुओंकी सेवामें लगती है और उनकी ऐसी सेवा करती है कि सबको मुग्ध हो जाना पड़ता है। सीताजी गृहस्थका सारा काम सुचारुरूपसे करती हैं जिससे सभी सन्तुष्ट हैं। इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि विदेशसे लौटते ही सास और सभी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंको प्रणाम करना और सास आदिकी सच्चे मनसे सेवा करनी चाहिये एवं गृहस्थीका सारा कार्य सुचारुरूपसे करना चाहिये।

समान व्यवहार

श्रीसीताजी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन देवरोंके साथ

पुत्रवत् बर्ताव करती थीं और खान-पान आदिमें किसी प्रकारका भी भेद नहीं रखती थीं। स्वामी श्रीरामके लिये जैसा भोजन बनता था ठीक वैसा ही सीताजी अपने देवरोंके लिये बनाती थीं। देखनेमें यह बात छोटी-सी मालूम होती है किन्तु इसी बर्तावमें दोष आ जानेके कारण केवल खानेकी वस्तुओंमें भेद रखनेसे आज भारतमें हजारों सम्मिलित कुटुम्बोंकी बुरी दशा हो रही है। सीताजीके इस बर्तावसे स्त्रियोंको खान-पानमें समान व्यवहार रखनेकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

सीता-परित्याग

एक समय भगवान् राम गुप्तचरोंके द्वारा सीताके सम्बन्धमें लोकापवाद सुनकर बहुत ही शोक करते हुए लक्ष्मणसे कहने लगे कि 'भाई! मैं जानता हूँ कि सीता पवित्र और यशस्विनी है, लंकामें उसने तेरे सामने जलती हुई अग्निमें प्रवेश करके अपनी परीक्षा दी थी और सर्वलोकसाक्षी अग्निदेवने स्वयं प्रकट होकर समस्त देवता और ऋषियोंके सामने सीताके पापरहित होनेकी घोषणा की थी तथापि इस लोकापवादके कारण मैंने सीताके त्यागका निश्चय कर लिया है। इसलिये तू कल प्रातःकाल ही सुमन्त सारथिके रथमें बैठाकर सीताको गंगाके उस पार तमसा नदीके तीरपर महात्मा वाल्मीकिके आश्रमके पास निर्जन वनमें छोड़कर चला आ। तुझे मेरे चरणोंकी और जीवनकी शपथ है, इस सम्बन्धमें तू मुझसे कुछ भी न कहना। सीतासे भी अभी कुछ न कहना।' लक्ष्मणने दुःखभरे हृदयसे मौन होकर आज्ञा स्वीकार की और प्रातःकाल ही सुमन्तसे कहकर रथ जुड़वा लिया।

सीताजीने एक बार मुनियोंके आश्रमोंमें जानेके लिये

श्रीरामसे प्रार्थना की थी, अतएव लक्ष्मणके द्वारा वन जानेकी बात सुनकर सीताजीने यही समझा कि स्वामीने ऋषियोंके आश्रमोंमें जानेकी आज्ञा दी है और वह ऋषिपत्नियोंको बाँटनेके लिये बहुमूल्य गहने-कपड़े और विविध प्रकारकी वस्तुएँ लेकर वनके लिये विदा हो गयी। मार्गमें अपशकुन होते देखकर सीताने लक्ष्मणसे पूछा—'भाई! अपने नगर और घरमें सब प्रसन्न तो हैं न?' लक्ष्मणने कहा—'सब कुशल है।' यहाँतक तो लक्ष्मणने सहन किया, परन्तु गंगाके तीरपर पहुँचते ही मर्मवेदनासे लक्ष्मणका हृदय भर आया और वह दीनकी भाँति फूट-फूटकर रोने लगा। संयमशील धर्मज्ञ लक्ष्मणको रोते देखकर सीता कहने लगी—'भाई! तुम रोते क्यों हो? हमलोग गंगातीर ऋषियोंके आश्रमोंके समीप आ गये हैं, यहाँ तो हर्ष होना चाहिये, तुम उलटा खेद कर रहे हो। तुम तो रात-दिन श्रीरामचन्द्रजीके पास ही रहते हो, क्या दो रात्रिके वियोगमें ही शोक करने लगे? हे पुरुषश्रेष्ठ! मुझको भी राम प्राणाधिक प्रिय हैं, पर मैं तो शोक नहीं करती, इस लड़कपनको छोड़ो और गंगाके उस पार चलकर मुझे तपस्वियोंके दर्शन कराओ। महात्माओंको भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बाँटकर और यथायोग्य उनकी पूजाकर एक ही रात रह हमलोग वापस लौट आवेंगे। मेरा मन भी कमलनेत्र, सिंहसदृश वक्ष:स्थलवाले, आनन्ददाताओंमें श्रेष्ठ श्रीरामको देखनेके लिये उतावला हो रहा है।'

लक्ष्मणने इन वचनोंका कोई उत्तर नहीं दिया और सीताके साथ नौकापर सवार हो गंगाके उस पार पहुँचकर फिर उच्च स्वरसे रोना शुरू कर दिया। सीताजीके बारम्बार पूछने और

आज्ञा देनेपर लक्ष्मणने सिर नीचा करके गद्‌गद वाणीसे लोकापवादका प्रसंग वर्णन करते हुए कहा—'देवि! आप निर्दोष हैं, किन्तु श्रीरामने आपको त्याग दिया है। अब आप श्रीरामको हृदयमें धारण करके पातिव्रत्य-धर्मका पालन करती हुई वाल्मीकि मुनिके आश्रममें रहें।'

लक्ष्मणके इन दारुण वचनोंको सुनते ही सीता मूर्च्छित-सी होकर गिर पड़ी। थोड़ी देर बाद होश आनेपर रोकर विलाप करने लगी और बोली—'हे लक्ष्मण! विधाताने मेरे शरीरको दुःख भोगनेके लिये रचा है। मालूम नहीं, मैंने कितनी जोड़ियोंको बिछुड़ाया था; जिससे आज मैं शुद्ध आचरणवाली सती होनेपर भी धर्मात्मा प्रिय पति रामके द्वारा त्यागी जाती हूँ। हे लक्ष्मण! पूर्वकालमें जब मैं वनमें थी तब तो स्वामीकी सेवाका सौभाग्य मिलनेके कारण वनके दुःखोंमें भी सुख मानती थी, परन्तु हे सौम्य! अब प्रियतमके वियोगमें मैं आश्रममें कैसे रह सकूँगी? जन्म-दुःखिनी मैं अपना दुखड़ा किसको सुनाऊँगी? हे प्रभो! महात्मा, ऋषि, मुनि जब मुझसे यह पूछेंगे कि तुझको श्रीरघुनाथजीने क्यों त्याग दिया, क्या तुमने कोई बुरा कर्म किया था? तो मैं क्या जवाब दूँगी। हे सौमित्रे! मैं आज ही इस भागीरथीमें डूबकर अपना प्राण दे देती, परन्तु मेरे अन्दर श्रीरामका वंश-बीज है, यदि मैं डूब मरूँ तो मेरे स्वामीका वंश नाश हो जायगा। इसलिये मैं मर भी नहीं सकती। हे लक्ष्मण! तुमको राजाज्ञा है तो तुम मुझ अभागिनीको यहीं छोड़कर चले जाओ, परन्तु मेरी कुछ बातें सुनते जाओ।

'मेरी ओरसे मेरी सारी सासुओंका हाथ जोड़कर चरणवन्दन

करना और फिर महाराजको मेरा प्रणाम कहकर कुशल पूछना। हे लक्ष्मण! सबके सामने सिर नवाकर मेरा प्रणाम कहना और धर्ममें सदा सावधान रहनेवाले महाराजसे मेरी ओरसे यह निवेदन करना—

जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः॥
अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः॥
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गतिः।
वक्तव्यश्चैव नृपतिधर्मेण सुसमाहितः॥
यथा भ्रातृषु वर्तेथास्तथा पौरेषु नित्यदा।
परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा॥
यत्तु पौरजने राजन् धर्मेण समवाप्नुयात्।
अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ॥
यथापवादं पौराणां तथैव रघुनन्दन।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः॥
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः।

(वा० रा० ७। ४८। १२—१८)

'हे राघव ! आप जिस प्रकार मुझको तत्त्वसे शुद्ध समझते हैं, उसी प्रकार नित्य अपनेमें भक्तिवाली और अनुरक्त चित्तवाली भी समझियेगा। हे वीर ! मैं जानती हूँ कि आपने लोकापवादको दूर करने और अपने कुलकी कीर्ति कायम रखनेके लिये ही मुझको त्याग दिया है, परन्तु मेरे तो आप ही परमगति हैं। हे महाराज ! आप जिस प्रकार अपने भाइयोंके साथ बर्ताव करते

हैं, प्रजाके साथ भी वही बर्ताव कीजियेगा। हे राघव! यही आपका परम धर्म है और इसीसे उत्तम कीर्ति मिलती है। हे स्वामिन्! प्रजापर धर्मयुक्त शासन करनेसे ही पुण्य प्राप्त होता है। अतएव ऐसा कोई बर्ताव न कीजियेगा जिससे प्रजामें अपवाद हो। हे रघुनन्दन! मुझे अपने शरीरके लिये तनिक भी शोक नहीं है, क्योंकि स्त्रीके लिये पति ही परम देवता है, पति ही परम बन्धु है और पति ही परम गुरु है। नित्य प्राणाधिक प्रिय पतिका प्रिय कार्य करना और उसीमें प्रसन्न रहना, स्त्रीका यह स्वाभाविक धर्म ही है।' क्या ही मार्मिक शब्द हैं! धन्य सती सीता, धन्य धर्मप्रेम और प्रजावत्सलता! धन्य भारतका सती-धर्म!! धन्य भारतीय देवियोंका अपूर्व त्याग!!!

सीताजी कहने लगीं—हे लक्ष्मण ! मेरा यह सन्देश महाराजसे कह देना। भाई! एक बात और है, मैं इस समय गर्भवती हूँ, तुम मेरी ओर देखकर इस बातका निश्चय करते जाओ, कहीं संसारमें लोग यह अपवाद न करें कि सीता वनमें जाकर सन्तान प्रसव करती है।'

सीताके इन वचनोंको सुनकर दीनचित्त लक्ष्मण व्याकुल हो उठे और सिर झुकाकर सीताके पैरोंमें गिर फुफकार मारकर जोर-जोरसे रोने लगे। फिर उठकर सीताजीकी प्रदक्षिणा की और दो घड़ीतक ध्यान करनेके बाद बोले— 'माता! हे निष्पाप पतिव्रते! आप यह क्या कह रही हैं? मैंने आजतक आपके चरणोंका ही दर्शन किया है, कभी स्वरूप नहीं देखा। आज भगवान् रामके परोक्ष मैं आपकी ओर कैसे ताक सकता हूँ?' तदनन्तर प्रणाम करके वह रोते हुए नावपर सवार होकर लौट

गये और इधर सीता—दुःख-भारसे पीड़ित आदर्श पतिव्रता सती सीता—अरण्यमें गला फाड़कर रोने लगीं। सीताजीके रुदनको सुनकर वाल्मीकिजी उनको अपने आश्रममें ले गये।

इस प्रसंगसे जो कुछ सीखा जा सकता है वही भारतीय देवियोंका परम धर्म है। सीताजीके उपर्युक्त शब्दोंका नित्य पाठ करना चाहिये और उनके रहस्यको अपने जीवनमें उतारना चाहिये। लक्ष्मणके बर्तावसे भी हमलोगोंको यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि पदमें माताके समान होनेपर भी पुरुष किसी भी स्त्रीके अंग न देखे। इसी प्रकार स्त्रियाँ भी अपने अंग किसीको न दिखावें। वाल्मीकिजीके आश्रममें सीता ऋषिकी आज्ञासे अन्तःपुरमें ऋषिपत्नीके पास रही, इससे यह सीखना चाहिये कि यदि कभी दूसरोंके घर रहनेका अवसर आवे तो स्त्रियोंको अन्तःपुरमें रहना चाहिये और इसी प्रकार किसी दूसरी स्त्रीको अपने यहाँ रखना हो तो स्त्रियोंके साथ अन्तःपुरमें ही रखना चाहिये।

पाताल-प्रवेश

जो स्त्री अपने धर्मका प्राणपणसे पालन करती है, अन्तमें उसका परिणाम अच्छा ही होता है। जब भगवान् श्रीरामचन्द्र अश्वमेध-यज्ञ करते हैं और लव-कुशके द्वारा रामायणका गान सुनकर मुग्ध हो जाते हैं तब लव-कुशकी पहचान होती है और श्रीरामकी आज्ञासे सीता वहाँ बुलायी जाती है। सीता श्रीरामका ध्यान करती हुई सिर नीचा किये हाथ जोड़कर वाल्मीकि ऋषिके पीछे-पीछे रोती हुई आ रही है। वाल्मीकि मुनि सभामें आकर जो कुछ कहते हैं उससे सारा लोकापवाद मिट जाता है और सारा देश सीतारामके जय-जयकारसे ध्वनित हो उठता है। वाल्मीकिने

सीताके निष्पाप होनेकी बात कहते हुए यहाँतक कह डाला कि 'मैंने हजारों वर्षोंतक तप किया है, मैं उस तपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि सीता दुष्ट आचरणवाली हो तो मेरे तपके सारे फल नष्ट हो जायँ। मैं अपनी दिव्यदृष्टि और ज्ञानदृष्टिद्वारा विश्वास दिलाता हूँ कि सीता परम शुद्धा है।' वाल्मीकिकी प्रतिज्ञाको सुनकर और सीताको सभामें आयी हुई देखकर भगवान् श्रीराम गद्गद हो गये और कहने लगे कि 'हे महाभाग! मैं जानता हूँ कि जानकी शुद्धा है, लव-कुश मेरे ही पुत्र हैं, मैं राजधर्म-पालनके लिये ही प्रिया सीताका त्याग करनेको बाध्य हुआ था। अतएव आप मुझे क्षमा करें।'

उस सभामें ब्रह्मा, आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेव, वायु, साध्य, महर्षि, नाग, सुपर्ण और सिद्ध आदि बैठे हुए हैं, उन सबके सामने राम फिर यह कहते हैं कि 'इस जगत्‌में वैदेही शुद्ध है और इसपर मेरा पूर्ण प्रेम है,'—

शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे॥

(वा० रा० ७। ९७। ५)

इतनेमें काषायवस्त्र धारण किये हुए सती सीता नीची गर्दन कर श्रीरामका ध्यान करती हुई भूमिकी ओर देखने लगीं और बोलीं—

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥

(वा० रा० ७। ९७। १४—१६)

'यदि मैंने रामको छोड़कर किसी दूसरेका कभी मनसे भी चिन्तन न किया हो तो हे माधवी देवी! तू मुझे अपनेमें ले ले, हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे। यदि मैंने मन, कर्म और वाणीसे केवल रामका ही पूजन किया हो तो हे माधवी देवी! मुझे अपनेमें ले ले, हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे। यदि मैं रामके सिवा और किसीको भी न जानती होऊँ यानी केवल रामको ही भजनेवाली हूँ, यह सत्य हो तो हे माधवी देवी! मुझे अपनेमें स्थान दे और हे पृथ्वी माता! मुझे मार्ग दे।'

इन तीनों शपथोंके करते ही अकस्मात् धरती फट गयी, उसमेंसे एक उत्तम और दिव्य सिंहासन निकला, दिव्य सिंहासनको दिव्य देह और दिव्य वस्त्राभूषणधारी नागोंने अपने मस्तकपर उठा रखा था और उसपर पृथ्वी देवी बैठी हुई थीं। पृथ्वी देवीने सीताका दोनों हाथोंसे आलिंगन किया और 'हे पुत्री! तेरा कल्याण हो' कहकर उसे गोदमें बैठा लिया। इतनेमें सबके देखते-देखते सिंहासन रसातलमें प्रवेश कर गया। सती सीताके जय-जयकारसे त्रिभुवन भर गया।

सीता-परित्यागके हेतु

यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'भगवान् श्रीराम बड़े दयालु और न्यायकारी थे, उन्होंने निर्दोष जानकर भी सीताका त्याग क्यों किया?' इसमें प्रधानतः निम्नलिखित पाँच कारण हैं, इन कारणोंपर ध्यान देनेसे सिद्ध हो जायगा कि रामका यह कार्य सर्वथा उचित था—

१—रामके समीप इस प्रकारकी बात आयी थी—

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते॥

(वा० रा० ७। ४३। १९)

—कि 'रामने रावणके घरमें रहकर आयी हुई सीताको घरमें रख लिया, इसलिये अब यदि हमारी स्त्रियाँ भी दूसरोंके यहाँ रह आवेंगी तो हम भी इस बातको सह लेंगे, क्योंकि राजा जो कुछ करता है प्रजा उसीका अनुसरण करती है।' प्रजाकी इस भावनासे भगवान्‌ने यह सोचा कि सीताका निर्दोष होना मेरी बुद्धिमें है। साधारण लोग इस बातको नहीं जानते। वे तो इससे यही शिक्षा लेंगे कि परपुरुषके घर बिना बाधा स्त्री रह सकती है, ऐसा होनेसे स्त्री-धर्म बिलकुल बिगड़ जायगा, प्रजामें वर्णसंकरताकी वृद्धि होगी, अतएव प्रजाके धर्मकी रक्षाके लिये प्राणाधिका सीताका त्याग कर देना चाहिये। सीताके त्यागमें रामको बड़ा दुःख था, उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था। उनके हृदयकी दशाका पूरा अनुभव तो कोई कर ही नहीं सकता, किन्तु वाल्मीकि-रामायण और उत्तररामचरितको पढ़नेसे किंचित् दिग्दर्शन हो सकता है। श्रीरामने यहाँ प्रजाधर्मकी रक्षाके लिये व्यक्तिधर्मका बलिदान कर दिया। प्रजारंजनके यज्ञानलमें आत्मस्वरूपा सीताकी आहुति दे डाली। इससे उनके प्रजाप्रेमका पता लगता है। सीता राम हैं और राम सीता हैं, शक्ति और शक्तिमान् मिलकर ही जगत्‌का नियन्त्रण करते हैं, अतएव सीताके त्यागमें कोई आपत्ति नहीं। इस लोकसंग्रहके हेतुसे भी सीताका त्याग उचित है।

२—चाहे थोड़ी ही संख्यामें हो सीताका झूठा अपवाद करनेवाले लोग थे। यह अपवाद त्यागके बिना मिट नहीं सकता था और यदि सीता वाल्मीकिके आश्रममें रहकर उनके द्वारा प्रतिज्ञाके साथ शुद्ध न कही जाती और पृथ्वीमें न समाती तो शायद यह अपवाद मिटता भी नहीं, सम्भव है और बढ़ जाता

और सीताका नाम आज जिस भावसे लिया जाता है शायद वैसे न लिया जाता। इस हेतुसे भी सीताका त्याग उचित है।

३—सीता श्रीरामकी परम भक्ता थी, उनकी आश्रिता थी, उनकी परम प्यारी अर्द्धांगिनी थी, ऐसी परम पुनीता सीताको निष्ठुरताके साथ त्यागनेका दोष भगवान् श्रीरामने अपने ऊपर इसीलिये ले लिया कि इससे सीताके गौरवकी वृद्धि हुई, सीताका झूठा कलंक भी मिट गया और सीता जगत्पूज्या बन गयी। भगवान् अपने भक्तोंका गौरव बढ़ानेके लिये अपने ऊपर दोष ले लिया करते हैं और यही यहाँपर भी हुआ।

४—अवतारका लीलाकार्य प्रायः समाप्त हो चुका था, देवतागण सीताजीको इस बातका संकेत कर गये थे। अध्यात्म-रामायणमें लिखा है कि 'दस हजार वर्षतक मायामनुष्यरूपधारी भगवान् विधिपूर्वक राज्य करते रहे और सब लोग उनके चरण-कमलोंको पूजते रहे। भगवान् श्रीराम राजर्षि परम पवित्र एकपत्नीव्रती थे और लोकसंग्रहके लिये गृहस्थके सब धर्मोंका यथाविधि पालन करते थे। पतिप्राणा सीताजी प्रेम, अनुकूल आचरण, नम्रता, इन्द्रियोंका दमन, लज्जा और प्रतिकूल आचरणमें भय आदि गुणोंके द्वारा भगवान्‌का भाव समझकर उनके मनको प्रसन्न करती थीं। एक समय श्रीराम पुष्प-वाटिकामें बैठे हुए थे और सीताजी उनके कोमल चरणोंको दबा रही थीं। सीताजीने एकान्त देखकर भगवान्‌से कहा कि 'हे देवदेव! आप जगत्के स्वामी, परमात्मा, सनातन सच्चिदानन्दघन और आदि मध्यान्तरहित तथा सबके कारण हैं। हे देव! उस दिन इन्द्रादि देवताओंने मेरे पास आकर स्तुति करते हुए यह कहा कि 'हे जगन्माता! तुम

भगवान्‌की चित्-शक्ति हो, तुम पहले वैकुण्ठ पधारनेकी कृपा करो तो भगवान् राम भी वैकुण्ठ पधारकर हमलोगोंको सनाथ करेंगे।' देवताओंने जो कुछ कहा था सो मैंने निवेदन कर दिया है। मैं कोई आज्ञा नहीं करती, आप जैसा उचित समझें वैसा करें।' क्षणभर सोचकर भगवान्‌ने कहा कि—

देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते।
कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम्॥
त्यजामि त्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः।
भविष्यतः कुमारौ द्वौ वाल्मीकेराश्रमान्तिके॥
इदानीं दृश्यते गर्भः पुनरागत्य मेऽन्तिकम्।
लोकानां प्रत्ययार्थं त्वं कृत्वा शपथमादरात्॥
भूमेर्विवरमात्रेण वैकुण्ठं यास्यसि द्रुतम्।
पश्चादहं गमिष्यामि एष एव सुनिश्चयः॥

(अ० रा० ७। ४। ४१—४४)

'हे देवि! मैं सब कुछ जानता हूँ और तुमको एक उपाय बतलाता हूँ। हे सीते! मैं तुम्हारे लोकापवादका बहाना रचकर साधारण मनुष्यकी तरह लोकापवादके भयसे तुमको वनमें त्याग दूँगा। वहाँ वाल्मीकिके आश्रममें तुम्हारे दो पुत्र होंगे, क्योंकि इस समय तुम्हारे गर्भ है। तदनन्तर तुम मेरे पास आ लोगोंको विश्वास दिलानेके लिये बड़े आदरसे—शपथ खा पृथ्वीके विवरमें प्रवेश कर तुरन्त वैकुण्ठको चली जाओगी और पीछेसे मैं भी आ जाऊँगा। यही निश्चय है।' यह भी सीताके त्यागका एक कारण है।

५—पूर्वकालमें एक समय युद्धमें देवताओंसे हारकर भागे हुए दैत्य भृगुजीकी स्त्रीके आश्रममें चले गये और ऋषि-पत्नीसे अभय प्राप्तकर निर्भय हो वहाँ रहने लगे। 'दैत्योंको भृगुपत्नीने आश्रय

दिया।' इस बातसे कुपित होकर भगवान् विष्णुने उसका चक्रसे सिर काट डाला था। पत्नीको इस प्रकार मारे जाते देखकर भृगु-ऋषिने क्रोधमें हतज्ञान होकर भगवान्‌को शाप दिया था कि 'हे जनार्दन! आपने कुपित होकर मेरी अवध्य पत्नीको मार डाला, इसलिये आपको मनुष्यलोकमें जन्म लेना होगा और दीर्घकालतक पत्नी-वियोग सहना पड़ेगा।' भगवान्‌ने लोकहितके लिये इस शापको स्वीकार किया और उसी शापको सत्य करनेके लिये अपनी अभिन्न शक्ति सीताको लीलासे ही वनमें भेज दिया।

इत्यादि अनेक कारणोंसे सीताका निर्वासन रामके लिये उचित ही था। असली बात तो यह है कि भगवान् राम और सीता साक्षात् नारायण और शक्ति हैं। एक ही महान् तत्त्वके दो रूप हैं। उनकी लीला वे ही जानें, हमलोगोंको आलोचना करनेका कोई अधिकार नहीं। हमें तो चाहिये कि उनकी दिव्य लीलाओंसे लाभ उठावें और अपने मनुष्य-जीवनको पवित्र करें।

मानव-लीलामें श्रीसीताजी इस बातको प्रमाणित कर गयीं कि बिना दोष भी यदि स्वामी स्त्रीको त्याग दे तो स्त्रीका कर्तव्य है कि इस विपत्तिमें दुःखमय जीवन बिताकर भी अपने पातिव्रत्य-धर्मकी रक्षा करे, परिणाम उसका कल्याण ही होगा।

उपसंहार

सत्य और न्याय अन्तमें अवश्य ही शुभ फल देंगे, सीताने अपने जीवनमें कठोर परीक्षाएँ देकर स्त्रीमात्रके लिये यह मर्यादा स्थापित कर दी कि जो स्त्री आपत्तिकालमें सीताकी भाँति धर्मका पालन करेगी, उसकी कीर्ति संसारमें सदाके लिये प्रकाशित हो जायगी। सीतामें पतिभक्ति, सीताका भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नके साथ निर्दोष वात्सल्य-प्रेम, सासुओंके प्रति सेवाभाव, सेवकोंके

साथ प्रेमका बर्ताव, नैहर और ससुरालमें सबके साथ आदर्श प्रीति और सबके सम्मान करनेकी चेष्टा, ऋषियोंकी सेवा, लव-कुश-जैसे वीर पुत्रोंका मातृत्व, उनको शिक्षा देनेकी पटुता, साहस, धैर्य, तप, वीरत्व और आदर्श धर्म-परायणता आदि सभी गुण पूर्ण विकसित और सर्वथा अनुकरणीय हैं। हमारी जो माताएँ और बहिनें प्रमाद, मोह और आसक्तिको त्यागकर सीताके चरित्रका अनुकरण करेंगी, उनके अपने कल्याणमें तो शंका ही क्या है, वे अपने पति और पुत्रोंको भी तार सकती हैं। अधिक क्या, जिसपर उनकी दया हो जायगी उसका भी कल्याण होना सम्भव है। ऐसी सती-शिरोमणि पतिव्रता स्त्री दर्शन और पूजनके योग्य है। मनुष्योंके द्वारा ही नहीं बल्कि देवताओंके द्वारा भी वह पूजनीय है और अपने चरित्रसे त्रिलोकीको पवित्र करनेवाली है।

यद्यपि श्रीसीताजी साक्षात् भगवती और परमात्माकी शक्ति थीं तथापि उन्होंने अपने मनुष्य-जीवनमें लोकशिक्षाके लिये जो चरित्र किया है वे सब ऐसे हैं कि जिनका अनुकरण सभी स्त्रियाँ कर सकती हैं। संसारकी मर्यादाके लिये ही सीता-रामका अवतार था। अतएव उनके चरित्र और उपदेश अलौकिक न होकर ऐसे व्यावहारिक थे कि जिनको काममें लाकर हमलोग लाभ उठा सकते हैं। जो स्त्री या पुरुष यह कहकर कर्तव्यसे छूटना चाहते हैं कि 'श्रीसीता-राम साक्षात् शक्ति और ईश्वर थे, हम उनके चरित्रोंका अनुकरण नहीं कर सकते।' वे कायर और अभक्त हैं, वे श्रीरामको ईश्वरका अवतार केवल कथनभरके लिये ही मानते हैं। सच्चे भक्तोंको तो श्रीराम-सीताके चरित्रका यथार्थ अनुकरण ही करना चाहिये।

❑❑

देवी कुन्ती

देवी कुन्ती एक आदर्श महिला थीं। ये महात्मा पाण्डवोंकी माता एवं भगवान् श्रीकृष्णकी बुआ थीं। ये वसुदेवजीकी सगी बहिन थीं तथा राजा कुन्तिभोजको गोद दी गयी थीं। जन्मसे इन्हें लोग पृथाके नामसे पुकारते थे, परन्तु 'राजा कुन्तिभोजके यहाँ इनका लालन-पालन होनेसे ये कुन्तीके नामसे विख्यात हुईं। ये बालकपनसे ही बड़ी सुशीला, सदाचारिणी, संयमशीला एवं भक्तिमती थीं। राजा कुन्तिभोजके यहाँ एक बार एक बड़े तेजस्वी ब्राह्मण अतिथिरूपमें आये। उनकी सेवाका कार्य बालिका कुन्तीको सौंपा गया। इसकी ब्राह्मणोंमें बड़ी भक्ति थी और अतिथि-सेवामें बड़ी रुचि थी। राजपुत्री पृथा आलस्य और अभिमानको त्यागकर ब्राह्मणदेवताकी सेवामें तन-मनसे संलग्न हो गयी। इसने शुद्ध मनसे सेवा करके ब्राह्मणदेवताको पूर्णतया प्रसन्न कर लिया। ब्राह्मणदेवताका व्यवहार बड़ा अटपटा था। कभी वे अनियत समयपर आते, कभी आते ही नहीं और कभी ऐसी चीज खानेको माँगते जिसका मिलना अत्यन्त कठिन होता, किन्तु पृथा उनके सारे काम इस प्रकार कर देती, मानो उसने उनके लिये पहलेसे ही तैयारी कर रखी हो। इसके शील-स्वभाव एवं संयमसे ब्राह्मणको बड़ा सन्तोष हुआ। कुन्तीकी यह बचपनकी ब्राह्मण-सेवा इनके लिये बड़ी कल्याणप्रद सिद्ध हुई और इसीसे इनके जीवनमें संयम, सदाचार, त्याग एवं सेवाभावकी नींव पड़ी। आगे जाकर इन गुणोंका इनके अन्दर अद्भुत विकास हुआ।

कुन्तीके अन्दर निष्कामभावका विकास भी बचपनसे ही हो गया था। इन्हें बड़ी तत्परता एवं लगनके साथ महात्मा ब्राह्मणकी सेवा करते पूरा एक वर्ष हो गया। इनके सेवा मन्त्रका अनुष्ठान पूरा हुआ। इनकी सेवामें ढूँढ़नेपर भी ब्राह्मणको कोई त्रुटि नहीं दिखायी दी। तब तो वे इनपर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा— 'बेटी! मैं तेरी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। मुझसे कोई वर माँग ले।' कुन्तीने ब्राह्मणदेवताको बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। श्रीकृष्णकी बुआ और पाण्डवोंकी भावी माताका वह उत्तर सर्वथा अनुरूप था। कुन्तीने कहा—'भगवन्! आप और पिताजी मुझपर प्रसन्न हैं, मेरे सब कार्य तो इसीसे सफल हो गये। अब मुझे वरोंकी कोई आवश्यकता नहीं है।' एक अल्पवयस्का बालिकाके अन्दर विलक्षण सेवाभावके साथ-साथ ऐसी निष्कामताका संयोग मणि-कांचन-संयोगके समान था। हमारे देशकी बालिकाओंको कुन्तीके इस आदर्श निष्काम सेवा-भावसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अतिथि-सेवा हमारे सामाजिक जीवनका प्राण रही है और उसकी शिक्षा भारतवासियोंको बचपनसे ही मिल जाया करती थी। सच्ची एवं सात्त्विक सेवा वही है, जो प्रसन्नतापूर्वक की जाय—जिसमें भार अथवा उकताहट न प्रतीत हो और जिसके बदलेमें कुछ न चाहा जाय। आजकलकी सेवामें प्रायः इन दोनों बातोंका अभाव देखा जाता है। प्रसन्नतापूर्वक निष्कामभावसे की हुई सेवा कल्याणका परम साधन बन जाती है। अस्तु,

जब कुन्तीने ब्राह्मणसे कोई वर नहीं माँगा तब उन्होंने इससे देवताओंके आवाहनका मन्त्र ग्रहण करनेके लिये कहा। वे कुछ-न-कुछ कुन्तीको देकर जाना चाहते थे। अबकी बार ब्राह्मणके

अपमानके भयसे कुन्ती इनकार न कर सकी। तब उन्होंने इसे अथर्ववेदके शिरोभागमें आये हुए मन्त्रोंका उपदेश दिया और कहा कि 'इन मन्त्रोंके बलसे तू जिस-जिस देवताका आवाहन करेगी, वही तेरे अधीन हो जायगा।' यों कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये। वे ब्राह्मण और कोई नहीं, उग्रतपा महर्षि दुर्वासा थे। उनके दिये हुए मन्त्रोंके प्रभावसे कुन्ती आगे चलकर धर्म आदि देवताओंसे युधिष्ठिर आदिको पुत्ररूपमें प्राप्त कर सकी।

कुन्तीका विवाह महाराज पाण्डुसे हुआ था। महाराज पाण्डु बड़े ही धर्मात्मा थे। उनके द्वारा एक बार भूलसे मृगरूपधारी किन्दम मुनिकी हिंसा हो गयी। इस घटनासे उनके मनमें बड़ी ग्लानि और निर्वेद हुआ और उन्होंने सब कुछ त्यागकर वनमें रहनेका निश्चय कर लिया। देवी कुन्ती बड़ी पतिभक्ता थीं। ये भी अपने पतिके साथ इन्द्रियोंको वशमें करके तथा कामजन्य सुखको तिलांजलि देकर वनमें रहनेके लिये तैयार हो गयीं। तबसे इन्होंने जीवनपर्यन्त नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया और संयमपूर्वक रहीं। पतिका स्वर्गवास होनेपर इन्होंने अपने बच्चोंकी रक्षाका भार अपनी छोटी सौत माद्रीको सौंपकर अपने पतिका अनुगमन करनेका विचार किया। परन्तु माद्रीने इसका विरोध किया। उसने कहा—'बहिन! मैं अभी युवती हूँ, अतः मैं ही पतिदेवका अनुगमन करूँगी। तुम मेरे बच्चोंकी सँभाल रखना।' कुन्तीने माद्रीकी बात मान ली और अन्ततक उसके पुत्रोंको अपने पुत्रोंसे बढ़कर समझा। सपत्नी एवं उसके पुत्रोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसकी शिक्षा भी हमारी माता-बहिनोंको कुन्तीके जीवनसे लेनी चाहिये। पतिके जीवनकालमें

इन्होंने माद्रीके साथ छोटी बहिनका-सा बर्ताव किया और उसके सती होनेके बाद उसके पुत्रोंके प्रति वही भाव रखा, जो एक साध्वी स्त्रीको रखना चाहिये। सहदेवके प्रति तो इनकी विशेष ममता थी और वह भी इनमें बहुत अधिक स्नेह-श्रद्धा रखता था।

पतिकी मृत्युके बादसे देवीकुन्तीका जीवन बराबर कष्टमें बीता। परन्तु ये बड़ी ही विचारशीला एवं धैर्यवती थीं। अतः इन्होंने कष्टोंकी कुछ भी परवा नहीं की और अन्ततक धर्मपर आरूढ़ रहीं। दुर्योधनके अत्याचारोंको भी ये चुपचाप सहती रहीं। इनका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु था। इन्हें अपने कष्टोंकी कोई परवा नहीं थी; परन्तु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकती थीं। लाक्षाभवनसे निकलकर जब ये अपने पुत्रोंके साथ एकचक्रा नगरीमें रहने लगी थीं, उन दिनों वहाँकी प्रजापर एक बड़ा भारी संकट था। उस नगरीके पास ही एक बकासुर नामका राक्षस रहता था। उस राक्षसके लिये नगरवासियोंको प्रतिदिन एक गाड़ी अन्न तथा दो भैंसे पहुँचाने पड़ते थे। जो मनुष्य इन्हें लेकर जाता, उसे भी वह राक्षस खा जाता। वहाँके निवासियोंको बारी-बारीसे यह काम करना पड़ता था। पाण्डवलोग जिस ब्राह्मणके घरमें भिक्षुकोंके रूपमें रहते थे, एक दिन उसके घरसे राक्षसके लिये आदमी भेजनेकी बारी आयी। ब्राह्मण-परिवारमें कुहराम मच गया। कुन्तीको इस बातका पता लगा तब इनका हृदय दयासे भर आया। इन्होंने सोचा—'हमलोगोंके रहते ब्राह्मण-परिवारको कष्ट भोगना पड़े, यह हमारे लिये बड़ी लज्जाकी बात होगी। फिर हमारे तो ये आश्रयदाता हैं, इनका प्रत्युपकार हमें किसी-न-किसी रूपमें करना ही चाहिये। अवसर आनेपर

उपकारीका प्रत्युपकार न करना धर्मसे च्युत होना है। जब इनके घरमें हमलोग रह रहे हैं तो इनका दुःख बँटाना हमारा कर्तव्य हो जाता है।' यों विचारकर कुन्ती ब्राह्मणके घरमें गयीं। इन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रके साथ बैठे हैं। वे अपनी स्त्रीसे कह रहे हैं कि 'तुम कुलीन, शीलवती और बच्चोंकी माँ हो। मैं राक्षससे अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें उसके पास नहीं भेज सकता।' पतिकी बात सुनकर ब्राह्मणीने कहा—'नहीं, मैं स्वयं उसके पास जाऊँगी। पत्नीके लिये सबसे बढ़कर सनातन कर्तव्य यही है कि वह अपने प्राणोंको निछावर करके पतिकी भलाई करे। स्त्रियोंके लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि वे अपने पतिसे पहले ही परलोकवासिनी हो जायँ। यह भी सम्भव है कि स्त्रीको अवध्य समझकर वह राक्षस मुझे न मारे। पुरुषका वध निर्विवाद है और स्त्रीका सन्देहग्रस्त, इसलिये मुझे ही उसके पास भेजिये।' माँ-बापकी दुःखभरी बात सुनकर कन्या बोली—'आप क्यों रो रहे हैं? देखिये, धर्मके अनुसार आप दोनों मुझे एक-न-एक दिन छोड़ देंगे। इसलिये आज ही मुझे छोड़कर अपनी रक्षा क्यों नहीं कर लेते? लोग सन्तान इसीलिये चाहते हैं कि वह हमें दुःखसे बचाये।' यह सुनकर माँ-बाप दोनों रोने लगे, कन्या भी रोये बिना न रह सकी। सबको रोते देखकर नन्हा-सा ब्राह्मण-बालक कहने लगा—'पिताजी! माताजी! बहिनजी! मत रोओ।' फिर उसने एक तिनका उठाकर हँसते हुए कहा—'मैं इसीसे राक्षसको मार डालूँगा।' अब सब लोग हँस पड़े। कुन्ती यह सब देख-सुन रही थीं। ये आगे बढ़कर उनसे बोलीं—'महाराज! आपके तो एक पुत्र और एक ही कन्या है।

मेरे आपकी दयासे पाँच पुत्र हैं। राक्षसको भोजन पहुँचानेके लिये मैं उनमेंसे किसीको भेज दूँगी, आप घबरायें नहीं।' ब्राह्मणदेवता देवी कुन्तीके इस प्रस्तावको सुनकर नट गये। उन्होंने कहा—'देवि! आपका इस प्रकार कहना आपके अनुरूप ही है; परन्तु मैं तो अपने लिये अपने अतिथिकी हत्या नहीं करा सकता।' कुन्तीने उन्हें बतलाया कि 'मैं अपने जिस पुत्रको राक्षसके पास भेजूँगी, वह बड़ा बलवान्, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है; उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।' इसपर ब्राह्मण राजी हो गये। तब कुन्तीने भीमसेनको उस कामके लिये राक्षसके पास भेज दिया। भला, दूसरोंकी प्राण-रक्षाके लिये इस प्रकार अपने हृदयके टुकड़ेका जान-बूझकर कोई माता बलिदान कर सकती है? कहना न होगा कि कुन्तीके इस आदर्श त्यागके प्रभावसे संसारपर बहुत ही अच्छा असर पड़ा। अतएव सभीको इससे शिक्षा लेनी चाहिये।'

देवी कुन्तीका सत्यप्रेम भी आदर्श था। ये विनोदमें भी कभी झूठ नहीं बोलती थीं। भूलसे भी इनके मुँहसे जो बात निकल जाती थी, उसका ये जी-जानसे पालन करती थीं। इस प्रकारकी सत्यनिष्ठा इतिहासके पन्ने उलटनेपर भी दूसरी जगह प्रायः नहीं देखनेमें आती। अर्जुन और भीम स्वयंवरमें द्रौपदीको जीतकर जब माताके पास लाये और कहा कि 'माता! आज हम यह भिक्षा लाये हैं। तो इन्होंने उन्हें बिना देखे ही कह दिया कि 'बेटा! पाँचों भाई मिलकर इसका उपयोग करो।' जब इन्हें मालूम हुआ कि ये एक कन्या लाये हैं, तब तो ये बड़े असमंजसमें पड़ गयीं। इन्होंने सोचा—'यदि मैं अपनी बात वापस लेती हूँ तो

असत्यका दोष लगता है; और यदि अपने पुत्रोंको उसीके अनुसार चलनेके लिये कहती हूँ तो सनातन मर्यादाका लोप होता है। पाँच भाइयोंका एक स्त्रीसे विवाह हो—यह पहले कभी नहीं देखा-सुना गया था।' ऐसी स्थितिमें देवी कुन्ती कुछ भी निश्चय न कर सकीं; वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयीं। अन्तमें उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरकी सम्मति पूछी और उन्होंने सत्यपर कायम रहनेकी ही सलाह दी। पीछे राजा द्रुपदकी ओरसे आपत्ति होनेपर वेदव्यासजीने द्रौपदीके पूर्वजन्मोंकी कथा कहते हुए उन्हें समझाया कि शंकरजीके वरदानसे ये पाँचों ही द्रुपदकुमारीका पाणिग्रहण करेंगे। इस प्रकार पाँचोंके साथ द्रुपदकुमारी विधिपूर्वक ब्याह दी गयीं। देवी कुन्तीकी सत्यनिष्ठाकी विजय हुई। उनके मुखसे हठात् ऐसी ही बात निकली जो होनेवाली थी। सत्यका दृढ़तापूर्वक आश्रय लेनेपर ऐसा होना किसीके लिये भी असम्भव नहीं है। अस्तु,

देवी कुन्तीका जीवन शुरूसे अन्ततक बड़ा ही त्यागपूर्ण, तपस्यामय और अनासक्त था। पाण्डवोंके वनवास एवं अज्ञातवासके समय ये उनसे अलग हस्तिनापुरमें ही रहीं और वहींसे इन्होंने अपने पुत्रोंके लिये अपने भतीजे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा क्षत्रियधर्मपर डटे रहनेका सन्देश भेजा। इन्होंने विदुला और संजयका दृष्टान्त देकर बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें उन्हें कहला भेजा कि 'पुत्रो! जिस कार्यके लिये क्षत्राणी पुत्र उत्पन्न करती है, उस कार्यके करनेका समय आ गया है।* महाभारतयुद्धके समय भी ये वहीं रहीं और युद्ध-समाप्तिके बाद जब धर्मराज युधिष्ठिर सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुए और इन्हें राजमाता बननेका

* यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः॥ (महा०, उद्योग० १३७। १०)

सौभाग्य प्राप्त हुआ, उस समय इन्होंने पुत्रवियोगसे दुःखी अपने जेठ-जेठानीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया और द्वेष एवं अभिमानरहित होकर उनकी सेवामें अपना समय बिताने लगीं। यहाँतक कि जब वे दोनों युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर वन जाने लगे, उस समय ये चुपचाप उनके संग हो लीं और युधिष्ठिर आदिके समझानेपर भी अपने दृढ़ निश्चयसे विचलित नहीं हुईं। जीवनभर दुःख और क्लेश भोगनेके बाद जब सुखके दिन आये, उस समय भी सांसारिक सुख-भोगको ठुकराकर स्वेच्छासे त्याग, तपस्या एवं सेवामय जीवन स्वीकार करना देवी कुन्ती-जैसी पवित्र आत्माका ही काम था। जिन जेठ-जेठानीसे इन्हें तथा इनके पुत्रों एवं पुत्रवधुओंको कष्ट, अपमान एवं अत्याचारके अतिरिक्त कुछ नहीं मिला, उन जेठ-जेठानीके लिये इतना त्याग संसारमें कहाँ देखनेको मिलता है? हमारी माताओं एवं बहिनोंको देवी कुन्तीके इस अनुपम त्यागसे शिक्षा लेनी चाहिये।

देवी कुन्तीको वन जाते समय भीमसेनने समझाया कि 'माता! यदि तुम्हें अन्तमें यही करना था तो फिर व्यर्थ हमलोगोंके द्वारा इतना नरसंहार क्यों करवाया? हमारे वनवासी पिताकी मृत्युके बाद हमें वनसे नगरमें क्यों लायीं?' उस समय देवी कुन्तीने उन्हें जो उत्तर दिया, वह हृदयमें अंकित करनेयोग्य है। वे बोलीं—'बेटा! तुमलोग कायर बनकर हाथ-पर-हाथ रखकर न बैठे रहो, क्षत्रियोचित पुरुषार्थको त्यागकर अपमानपूर्ण जीवन न व्यतीत करो, शक्ति रहते अपने न्यायोचित अधिकारसे सदाके लिये हाथ न धो बैठो—इसलिये मैंने तुमलोगोंको युद्धके लिये उकसाया था, अपने सुखकी इच्छासे ऐसा नहीं किया था। मुझे राज्य-सुख भोगनेकी इच्छा नहीं है। मैं तो अब तपके द्वारा

पतिलोकमें जाना चाहती हूँ। इसलिये अपने वनवासी जेठ-जेठानीकी सेवामें रहकर मैं अपना शेष जीवन तपमें ही बिताऊँगी। तुमलोग सुखपूर्वक घर लौट जाओ और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए अपने परिजनोंको सुख दो।' इस प्रकार अपने पुत्रोंको समझा-बुझाकर देवी कुन्ती अपने जेठ-जेठानीके साथ वनमें चली गयीं और अन्तसमयतक उनकी सेवामें रहकर इस देवीने उन्हींके साथ दावाग्निमें जलकर योगियोंकी भाँति शरीर छोड़ दिया। देवी कुन्ती-जैसी आदर्श महिलाएँ संसारके इतिहासमें बहुत कम मिलेंगी।

❑❑

देवी द्रौपदी

देवी द्रौपदी पांचालनरेश राजा द्रुपदकी अयोनिजा पुत्री थीं। इनकी उत्पत्ति यज्ञवेदीसे हुई थी। इनका रूप-लावण्य अनुपम था। इनके जैसी सुन्दरी उस समय पृथ्वीभरमें कोई न थी। इनके शरीरसे तुरन्तके खिले कमलकी-सी गन्ध निकलकर एक कोसतक फैल जाती थी। इनके जन्मके समय आकाशवाणीने कहा था—'देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये क्षत्रियोंके संहारके उद्देश्यसे इस रमणीरत्नका जन्म हुआ है। इसके कारण कौरवोंको बड़ा भय होगा। कृष्णवर्ण होनेके कारण लोग इन्हें कृष्णा कहते थे। पूर्वजन्ममें दिये हुए भगवान् शंकरके वरदानसे इन्हें इस जन्ममें पाँच पति प्राप्त हुए। अकेले अर्जुनके द्वारा स्वयंवरमें जीती जानेपर भी माता कुन्तीकी आज्ञासे इन्हें पाँचों भाइयोंने ब्याहा था।

द्रौपदी उच्च कोटिकी पतिव्रता एवं भगवद्भक्ता थीं। इनकी

भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अविचल प्रीति थी। ये उन्हें अपना रक्षक, हितैषी एवं परम आत्मीय तो मानती ही थीं, उनकी सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्तामें भी इनका पूर्ण विश्वास था। जब कौरवोंकी सभामें दुष्ट दुःशासनने इन्हें नंगी करना चाहा और सभासदोंमेंसे किसीकी हिम्मत न हुई कि इस अमानुषी अत्याचारको रोके, उस समय अपनी लाज बचानेका कोई दूसरा उपाय न देख इन्होंने अत्यन्त आतुर होकर भगवान् श्रीकृष्णको पुकारा—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥*

(महा०, सभा० ६८। ४१—४३)

सच्चे हृदयकी करुण पुकार भगवान् बहुत जल्दी सुनते हैं। श्रीकृष्ण उस समय द्वारकामें थे, वहाँसे वे तुरन्त दौड़े आये और धर्मरूपसे द्रौपदीके वस्त्रोंमें छिपकर उनकी लाज बचायी।

* हे गोविन्द ! हे द्वारकावासी ! हे सच्चिदानन्दस्वरूप प्रेमघन ! हे गोपीजनवल्लभ ! हे सर्वशक्तिमान् प्रभो ! कौरव मुझे अपमानित कर रहे हैं। क्या यह बात आपको मालूम नहीं है ? हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे आर्तिनाशन जनार्दन ! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूब रही हूँ। आप मेरा उद्धार कीजिये। हे कृष्ण ! आप सच्चिदानन्दस्वरूप महायोगी हैं ! आप सर्वस्वरूप एवं सबके जीवनदाता हैं ! हे गोविन्द ! मैं कौरवोंसे घिरकर बड़े संकटमें पड़ गयी हूँ। आपकी शरणमें हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

भगवान्‌की कृपासे द्रौपदीकी साड़ी अनन्तगुना बढ़ गयी। दुःशासन उसे जितना ही खींचता था, उतना ही वह बढ़ती जाती थी। देखते-देखते वहाँ वस्त्रका ढेर लग गया। महाबली दुःशासनकी प्रचण्ड भुजाएँ थक गयीं; परंतु साड़ीका छोर हाथ नहीं आया। उपस्थित सारे समाजने भगवद्भक्ति एवं पातिव्रत्यका अद्‌भुत चमत्कार देखा। अन्तमें दुःशासन हारकर लज्जित हो बैठ गया। भक्तवत्सल प्रभुने अपने भक्तकी लाज रख ली। धन्य भक्तवत्सलता!

एक दिनकी बात है—जब पाण्डवलोग द्रौपदीके साथ काम्यक वनमें रह रहे थे, दुर्योधनके भेजे हुए महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंको साथ लेकर पाण्डवोंके पास आये। दुर्योधनने जान-बूझकर उन्हें ऐसे समयमें भेजा जब कि सब लोग भोजन करके विश्राम कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिरने अतिथिसेवाके उद्देश्यसे ही भगवान् सूर्यदेवसे एक ऐसा चमत्कारी बर्तन प्राप्त किया था, जिसमें पकाया हुआ थोड़ा-सा भी भोजन अक्षय हो जाता था। लेकिन उसमें शर्त यह थी कि जबतक द्रौपदी भोजन न करके अन्न परोसती रहे, तभीतक उस बर्तनसे यथेष्ट अन्न प्राप्त हो सकता था। युधिष्ठिरने महर्षिको शिष्य-मण्डलीके सहित भोजनके लिये आमन्त्रित किया और दुर्वासाजी मध्याह्नकालीन स्नान-सन्ध्यादि नित्यकर्मसे निवृत्त होनेके लिये सबके साथ गंगातटपर चले गये।

दुर्वासाजीके साथ दस हजार शिष्योंका एक पूरा-का-पूरा विश्वविद्यालय-सा चला करता था। धर्मराजने उन सबको भोजनका निमन्त्रण तो दे दिया और ऋषिने उसे स्वीकार भी कर

लिया; परन्तु किसीने भी इसका विचार नहीं किया कि द्रौपदी भोजन कर चुकी है, इसलिये सूर्यके दिये हुए बर्तनसे तो उन लोगोंके भोजनकी व्यवस्था हो नहीं सकती थी। द्रौपदी बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं। उन्होंने सोचा—'ऋषि यदि बिना भोजन किये वापस लौट जाते हैं तो वे बिना शाप दिये नहीं रहेंगे।' उनका क्रोधी स्वभाव जगद्विख्यात था। द्रौपदीको और कोई उपाय नहीं सूझा। तब इन्होंने मन-ही-मन भक्तभयभंजन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया और इस आपत्तिसे उबारनेकी उनसे इस प्रकार प्रार्थना की—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नतास्मि ते॥
वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल॥
नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण॥
त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम्।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः॥
त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम्।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि॥

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव सङ्कटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि॥*

(महा०, वन० २६३। ८—१६)

श्रीकृष्ण तो घट-घटकी जाननेवाले हैं। वे तुरन्त वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर द्रौपदीके शरीरमें मानो प्राण आ गये, डूबते हुएको मानो सहारा मिल गया। द्रौपदीने संक्षेपमें उन्हें सारी बात सुना दी। श्रीकृष्णने अधीरता प्रदर्शित करते हुए कहा—'और सब बात पीछे होगी, पहले मुझे जल्दी कुछ खानेको दो। मुझे बड़ी भूख लगी है। तुम जानती नहीं हो मैं कितनी दूरसे हारा-थका आया हूँ।' द्रौपदी लाजके मारे गड़-सी गयीं। इन्होंने रुकते-रुकते कहा—'प्रभो! मैं अभी-अभी खाकर उठी हूँ। अब तो उस बटलोईमें कुछ भी नहीं बचा है।' श्रीकृष्णने कहा—'जरा

* 'हे कृष्ण! हे महाबाहु श्रीकृष्ण! हे देवकीनन्दन! हे अविनाशी वासुदेव! चरणोंमें पड़े हुए दुःखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर! तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हो। इस विश्वको बनाना और बिगाड़ना तुम्हारे ही हाथोंका खेल है। प्रभो! तुम अविनाशी हो; शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले गोपाल! तुम्हीं सम्पूर्ण प्रजाके रक्षक परात्पर परमेश्वर हो; चित्तकी वृत्तियों और भावोंके प्रवर्तक तुम्हीं हो, मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ। सबके वरण करनेयोग्य वरदाता अनन्त! आओ; जिन्हें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई सहारा देनेवाला नहीं है, उन असहाय भक्तोंकी सहायता करो। पुराणपुरुष! प्राण और मनकी वृत्तियाँ तुम्हारे पासतक नहीं पहुँच पातीं। सबके साक्षी परमोत्कृष्ट देव! मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। शरणागतवत्सल! कृपा करके मुझे बचाओ! नीलकमलदलके समान श्यामसुन्दर! कमल पुष्पके भीतरी भागके समान किंचित् लाल नेत्रोंवाले! कौस्तुभमणिविभूषित एवं पीताम्बर धारण करनेवाले! श्रीकृष्ण! तुम्हीं सम्पूर्ण भूतोंके आदि और अन्त हो, तुम्हीं परम आश्रय हो! तुम्हीं परात्पर, ज्योतिर्मय, सर्वव्यापक एवं सर्वात्मा हो। ज्ञानी पुरुषोंने तुमको ही इस जगत्का परम बीज और सम्पूर्ण सम्पदाओंका अधिष्ठान कहा है। देवेश! जब तुम मेरे रक्षक हो तो मुझपर सारी विपत्तियाँ टूट पड़ें तो भी भय नहीं है। आजसे पहले सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे तुमने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार करो।'

अपनी बटलोई मुझे दिखाओ तो सही!' कृष्णा बटलोई ले आयीं। श्रीकृष्णने उसे हाथमें लेकर देखा तो उसके गलेमें उन्हें एक सागका पत्ता चिपका हुआ मिला। उन्होंने उसीको मुँहमें डालकर कहा—'इस सागके पत्तेसे सम्पूर्ण जगत्के आत्मा यज्ञभोक्ता परमेश्वर तृप्त हो जायँ।' इसके बाद उन्होंने सहदेवसे कहा—'भैया! अब तुम मुनीश्वरोंको भोजनके लिये बुला लाओ।' सहदेवने गंगातटपर जाकर देखा तो वहाँ उन्हें कोई नहीं मिला। बात यह हुई कि जिस समय श्रीकृष्णने सागका पत्ता मुँहमें डालकर वह संकल्प पढ़ा, उस समय मुनीश्वरलोग जलमें खड़े होकर अघमर्षण कर रहे थे। उन्हें अकस्मात् ऐसा अनुभव होने लगा, मानो उनका पेट गलेतक अन्नसे भर गया हो। वे सब एक-दूसरेके मुँहकी ओर ताकने लगे और कहने लगे कि 'अब हमलोग वहाँ जाकर क्या खायेंगे?' दुर्वासाने चुपचाप भाग जाना ही श्रेयस्कर समझा; क्योंकि वे यह जानते थे कि पाण्डव भगवद्भक्त हैं और अम्बरीषके यहाँ उनपर जो कुछ बीती थी, उसके बादसे उन्हें भगवद्भक्तोंसे बड़ा डर लगने लगा था। बस, सब लोग वहाँसे चुपचाप भाग निकले। सहदेवको वहाँ रहनेवाले तपस्वियोंसे उन सबके भाग जानेका समाचार मिला और उन्होंने लौटकर सारी बात धर्मराजको कह सुनायी। इस प्रकार द्रौपदीकी श्रीकृष्णभक्तिसे पाण्डवोंकी एक भारी बला टल गयी। श्रीकृष्णने आकर इन्हें दुर्वासाके कोपसे बचा लिया और इस प्रकार अपनी शरणागत-वत्सलताका परिचय दिया।

एक बार वनमें भगवान् श्रीकृष्ण देवी सत्यभामाके साथ पाण्डवोंसे मिलने आये। उस समय बातों-ही-बातोंमें

सत्यभामाजीने द्रौपदीसे पूछा—'बहिन! मैं तुमसे एक बात पूछती हूँ। मैं देखती हूँ कि तुम्हारे शूरवीर और बलवान् पति सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं; इसका क्या कारण है? क्या तुम कोई जन्तर-मन्तर या औषध जानती हो? अथवा क्या तुमने जप, तप, व्रत, होम या विद्यासे उन्हें वशमें कर रखा है? मुझे भी कोई ऐसा उपाय बताओ, जिससे भगवान् श्यामसुन्दर मेरे वशमें हो जायँ।' देवी द्रौपदीने कहा—'बहिन! तुम्हारा इस प्रकार शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि तुम बुद्धिमती और श्रीकृष्णकी पटरानी हो। जब पतिको यह मालूम हो जाता है कि पत्नी उसे काबूमें करनेके लिये किसी मन्त्र-तन्त्रका प्रयोग कर रही है, तब वह उससे उसी प्रकार दूर रहता है, जिस प्रकार घरमें घुसे हुए साँपसे। अतः मन्त्र-तन्त्रसे कभी भी पति अपनी पत्नीके वशमें नहीं हो सकता। इसके विपरीत, इससे कई प्रकारके अनर्थ हो जाते हैं। इसलिये स्त्रीको कभी किसी प्रकार अपने पतिका अप्रिय नहीं करना चाहिये।'

इसके बाद इन्होंने बतलाया कि अपने पतियोंको प्रसन्न रखनेके लिये ये किस प्रकारका आचरण करती थीं। द्रौपदीने कहा—'बहिन! मैं अहंकार और काम-क्रोधका परित्यागकर बड़ी सावधानीसे सब पाण्डवोंकी और उनकी स्त्रियोंकी सेवा करती हूँ। मैं ईर्ष्यासे दूर रहती हूँ और मनको काबूमें रखकर केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंका मन रखती हूँ। मैं कटुभाषणसे दूर रहती हूँ, असभ्यतासे खड़ी नहीं होती, खोटी बातोंपर दृष्टि नहीं डालती, बुरी जगहपर नहीं बैठती, दूषित आचरणके पास नहीं फटकती तथा पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका अनुसरण करती हूँ। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवा, धनी अथवा रूपवान्—कैसा ही

पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता। अपने पतियोंके भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती, स्नान किये बिना स्नान नहीं करती और बैठे बिना स्वयं नहीं बैठती। जब-जब मेरे पति घर आते हैं, तब-तब मैं खड़ी होकर उन्हें आसन और जल देती हूँ। मैं घरके बर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ, मधुर रसोई तैयार करती हूँ और समयपर भोजन कराती हूँ। सदा सजग रहती हूँ, घरमें अनाजकी रक्षा करती हूँ और घरको झाड़-बुहारकर साफ रखती हूँ। मैं बातचीतमें किसीका तिरस्कार नहीं करती, कुलटा स्त्रियोंके पास नहीं फटकती और सदा ही पतियोंके अनुकूल रहकर आलस्यसे दूर रहती हूँ। मैं दरवाजेपर बार-बार जाकर खड़ी नहीं होती तथा खुली अथवा कूड़ा-करकट डालनेकी जगहपर भी अधिक नहीं ठहरती, किन्तु सदा ही सत्यभाषण और पतिसेवामें तत्पर रहती हूँ। पतिदेवके बिना अकेली रहना मुझे बिलकुल पसन्द नहीं है। जब किसी कौटुम्बिक कार्यसे पतिदेव बाहर चले जाते हैं तो मैं पुष्प और चन्दनादिको छोड़कर नियम और व्रतोंका पालन करते हुए समय बिताती हूँ। मेरे पति जिस चीजको नहीं खाते, नहीं पीते अथवा सेवन नहीं करते, मैं भी उससे दूर रहती हूँ। स्त्रियोंके लिये शास्त्रने जो-जो बातें बतायी हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। शरीरको यथाप्राप्त वस्त्रालंकारोंसे सुसज्जित रखती हूँ तथा सर्वदा सावधान रहकर पतिदेवका प्रिय करनेमें तत्पर रहती हूँ।

सासजीने मुझे कुटुम्बसम्बन्धी जो-जो धर्म बताये हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। भिक्षा देना, पूजन, श्राद्ध, त्योहारोंपर पकवान बनाना, माननीयोंका आदर करना तथा और भी मेरे

लिये जो-जो धर्म विहित हैं, उन सभीका मैं सावधानीसे रात-दिन आचरण करती हूँ; मैं विनय और नियमोंको सर्वदा सब प्रकार अपनाये रहती हूँ। मेरे विचारसे तो स्त्रियोंका सनातनधर्म पतिके अधीन रहना ही है, वही उनके इष्टदेव हैं। मैं अपने पतियोंसे बढ़कर कभी नहीं रहती, उनसे अच्छा भोजन नहीं करती, उनसे बढ़िया वस्त्राभूषण नहीं पहनती और न कभी सासजीसे वाद-विवाद करती हूँ तथा सदा ही संयमका पालन करती हूँ। मैं सदा अपने पतियोंसे पहले उठती हूँ तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें लगी रहती हूँ। अपनी सासकी मैं भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा ही सेवा करती रहती हूँ। वस्त्र, आभूषण और भोजनादिमें मैं कभी उनकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती। पहले महाराज युधिष्ठिरके दस हजार दासियाँ थीं। मुझे उनके नाम, रूप, वस्त्र आदि सबका पता रहता था और इस बातका भी ध्यान रहता था कि किसने क्या काम कर लिया है और क्या नहीं। जिस समय इन्द्रप्रस्थमें रहकर महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी-पालन करते थे, उस समय उनके साथ एक लाख घोड़े और उतने ही हाथी चलते थे। उनकी गणना और प्रबन्ध मैं ही करती थी और मैं ही उनकी आवश्यकताएँ सुनती थी। अन्तःपुरके ग्वालों और गड़ेरियोंसे लेकर सभी सेवकोंके काम-काजकी देख-रेख भी मैं ही किया करती थी।

'महाराजकी जो कुछ आय-व्यय और बचत होती थी, उन सबका विवरण मैं अकेली ही रखती थी। पाण्डवलोग कुटुम्बका सारा भार मेरे ऊपर छोड़कर पूजा-पाठमें लगे रहते थे और आये-गयोंका स्वागत-सत्कार करते थे; और मैं सब प्रकारका

सुख छोड़कर उसकी सँभाल करती थी। मेरे पतियोंका जो अटूट खजाना था, उसका पता भी मुझ एकको ही था। मैं भूख-प्यासको सहकर रात-दिन पाण्डवोंकी सेवामें लगी रहती। उस समय रात और दिन मेरे लिये समान हो गये थे। मैं सदा ही सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती थी। सत्यभामाजी! पतियोंको अनुकूल करनेका मुझे तो यही उपाय मालूम है।' एक आदर्श गृहपत्नीको घरमें किस प्रकार रहना चाहिये—इसकी शिक्षा हमें द्रौपदीके जीवनसे लेनी चाहिये।

× × × ×

देवी द्रौपदीमें क्षत्रियोचित तेज और भक्तोचित क्षमा—दोनोंका अभूतपूर्व सम्मिश्रण था। ये बड़ी बुद्धिमती और विदुषी भी थीं। इनका त्याग भी अद्भुत था। इनके पातिव्रत्यका तो सभी लोग लोहा मानते थे। इन्हें जब दुष्ट दुःशासन बाल खींचते हुए सभामें घसीटकर लाया, उस समय इन्होंने उसे डाँटते हुए अपने पतियोंके कोपका भय दिखलाया और सारे सभासदोंको धिक्कारते हुए द्रोण, भीष्म और विदुर-जैसे सम्मान्य गुरुजनोंको भी उनके चुप बैठे रहनेपर फटकारा। इन्होंने साहसपूर्वक सभासदोंको ललकारकर उनसे न्यायकी अपील की और उन्हें धर्मकी दुहाई देकर यह पूछा कि 'जब महाराज युधिष्ठिरने अपनेको हारकर पीछे मुझे दाँवपर लगाया है, ऐसी हालतमें उनका मुझे दाँवपर लगानेका अधिकार था या नहीं?' सब-के-सब सभासद चुप रहे। किसीसे द्रौपदीके इस प्रश्नका उत्तर देते नहीं बना। अन्तमें दुर्योधनके भाई विकर्णने उठकर सबसे द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर देने और मौन भंग करनेके लिये अनुरोध किया और अपनी ओरसे

यह सम्मति प्रकट की कि 'प्रथम तो द्रौपदी पाँचों भाइयोंकी स्त्री है, अतः अकेले युधिष्ठिरको इन्हें दाँवपर रखनेका कोई अधिकार नहीं था। दूसरे, इन्होंने अपनेको हारनेके बाद द्रौपदीको दाँवपर लगाया था, इसलिये भी यह उनकी अनधिकार चेष्टा ही समझी जायगी।' विकर्णकी बात सुनकर विदुरने उसका समर्थन किया और अन्य सभासदोंने भी उसकी प्रशंसा की। परंतु कर्णने डाँटते हुए उसे बलपूर्वक बैठा दिया। इस प्रकार भरी सभामें दुःशासन-द्वारा घसीटी जाने एवं अपमानित होनेपर भी द्रौपदीकी नैतिक विजय ही हुई। इनकी बुद्धि सर्वोपरि रही। कोई भी इनकी बातका खण्डन नहीं कर सका। अन्तमें विदुरके समझानेपर धृतराष्ट्रने दुर्योधनको डाँटा और द्रौपदीको प्रसन्न करनेके लिये इनसे वर माँगनेको कहा। इन्होंने वरदानके रूपमें धृतराष्ट्रसे केवल यही माँगा कि 'मेरे पाँचों पति दासत्वसे मुक्त कर दिये जायँ।' धृतराष्ट्रने कहा—'बेटी! और भी कुछ माँग ले।' उस समय द्रौपदीने उन्हें जो उत्तर दिया, वह सर्वथा द्रौपदीके अनुरूप ही था। उससे इनकी निर्लोभता एवं धर्मप्रेम स्पष्ट झलकता था। इन्होंने कहा—'महाराज! अधिक लोभ करना ठीक नहीं। और कुछ माँगनेकी मेरी बिलकुल इच्छा नहीं है। मेरे पति स्वयं समर्थ हैं। अब जब वे दासतासे मुक्त हो गये हैं तो बाकी सब कुछ वे स्वयं कर लेंगे।' इस प्रकार द्रौपदीने अपनी बुद्धिमत्ता एवं पातिव्रत्यके बलसे अपने पतियोंको दासतासे मुक्त करा दिया।

द्रौपदीके जिन लम्बे-लम्बे, काले केशोंका कुछ ही दिन पहले राजसूय-यज्ञमें अवभृथ-स्नानके समय मन्त्रपूत जलसे अभिषेक किया गया था, उन्हीं केशोंका दुष्ट दुःशासनके द्वारा

भरी सभामें खींचा जाना द्रौपदीको कभी नहीं भूला। उस अभूतपूर्व अपमानकी आग इनके हृदयमें सदा ही जला करती थी, इसीलिये जब-जब इनके सामने कौरवोंसे सन्धि करनेकी बात आयी, तब-तब इन्होंने उसका विरोध ही किया और बराबर अपने अपमानकी याद दिलाकर अपने पतियोंको युद्धके लिये प्रोत्साहित करती रहीं। अन्तमें जब यही तय हुआ कि एक बार कौरवोंको समझा-बुझाकर देख लिया जाय और जब भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जाने लगे, उस समय भी इन्हें अपने अपमानकी बात नहीं भूली और इन्होंने अपने लम्बे-लम्बे केशोंको हाथमें लेकर श्रीकृष्णसे कहा—'श्रीकृष्ण! तुम सन्धि करने जा रहे हो, सो तो ठीक है। परंतु तुम मेरे केशोंको न भूल जाना।' इन्होंने यहाँतक कह दिया कि 'यदि पाण्डवोंकी युद्ध करनेकी इच्छा नहीं है तो कोई बात नहीं; अपने महारथी पुत्रोंके सहित मेरे वृद्ध पिता कौरवोंसे संग्राम करेंगे तथा अभिमन्युके सहित मेरे पाँचों बली पुत्र उनके साथ जूझेंगे।'

काम्यक वनमें जब दुष्ट जयद्रथ द्रौपदीको बलपूर्वक ले जानेकी चेष्टा करने लगा, उस समय इन्होंने उसे इतने जोरसे धक्का दिया कि वह कटे हुए पेड़की तरह जमीनपर गिर पड़ा। किन्तु वह तुरंत ही सँभलकर खड़ा हो गया और इन्हें जबर्दस्ती रथपर बैठाकर ले चला। पीछे जब भीम और अर्जुन उसे पकड़ लाये और उसकी काफी मरम्मत बना चुके, तब इन्होंने दयापूर्वक उसे छुड़ा दिया। इस प्रकार द्रौपदी क्रोधके साथ-साथ क्षमा करना भी जानती थीं। इनका पातिव्रत्य-तेज तो अपूर्व था ही। जिस किसीने इनके साथ छेड़-छाड़ अथवा दुश्चेष्टा की, उसीको

प्राणोंसे हाथ धोने पड़े। दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, जयद्रथ, कीचक आदि सबकी यही दशा हुई। भला, पतिव्रता, पीड़िता नारीकी हाय किसको नहीं खा लेगी। महाभारतयुद्धमें जो कौरवोंका सर्वनाश हुआ, उसका मूल सती द्रौपदीका अपमान ही था।

❑❑

पतिभक्ता गान्धारी

संसारकी पतिव्रता देवियोंमें गान्धारीका स्थान बहुत ऊँचा है। ये गान्धारराज सुबलकी पुत्री और शकुनिकी बहिन थीं। इन्होंने कुमारी-अवस्थामें ही भगवान् शंकरकी बड़ी आराधना की और उनसे सौ पुत्रोंका वरदान प्राप्त किया। जब इन्हें मालूम हुआ कि इनका विवाह नेत्रहीन धृतराष्ट्रसे होनेवाला है, उसी समयसे इन्होंने अपनी दोनों आँखोंपर पट्टी बाँध ली। इन्होंने सोचा कि जब मेरे पति ही नेत्रसुखसे वंचित हैं, तब मुझे संसारको देखनेका क्या अधिकार है। उस समयसे जबतक ये जीवित रहीं, अपने उस दृढ़ निश्चयपर अटल रहीं। पतिके लिये इन्द्रियसुखके त्यागका ऐसा अनूठा उदाहरण संसारके इतिहासमें और कहीं नहीं मिलता। इनका यह तप और त्याग अनुपम था, संसारके लिये एक अनोखी वस्तु थी। ये सदा अपने पतिके अनुकूल रहीं। इन्होंने ससुरालमें आते ही अपने चरित्र और सद्‌गुणोंसे पति एवं उनके सारे परिवारको मुग्ध कर लिया। धन्य पतिप्रेम!

देवी गान्धारी जैसी पतिव्रता थीं, वैसी ही निर्भीक और न्यायप्रिय भी थीं। ये सदा सत्य, नीति और धर्मका ही पक्षपात करती थीं, अन्यायका कभी समर्थन नहीं करती थीं। इनके पुत्रोंने देवी द्रौपदीके साथ भरी सभामें जो अत्याचार किया था, उसका इनके मनमें बड़ा

दुःख था। ये इस बातसे अपने पुत्रोंपर प्रसन्न नहीं हुईं। जब इनके पति राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रकी बातोंमें आकर दुबारा पाण्डवोंको द्यूतके लिये बुला भेजा, उस समय ये बड़ी दुःखी हुईं। इन्होंने जुएका विरोध करते हुए अपने पतिदेवसे कहा—'स्वामी ! दुर्योधन जन्मते ही गीदड़के समान रोने-चिल्लाने लगा था। इसलिये उसी समय परमज्ञानी विदुरने कहा था कि इस पुत्रका परित्याग कर दो। मुझे तो वह बात याद करके यही मालूम होता है कि यह कुरुवंशका नाश करके छोड़ेगा। आर्यपुत्र ! आप अपने दोषसे सबको विपत्तिमें न डालिये। इन ढीठ मूर्खोंकी 'हाँ-में-हाँ ' न मिलाइये। इस वंशके नाशका कारण मत बनिये। बँधे हुए पुलको मत तोड़िये। बुझी हुई आग फिर धधक उठेगी। पाण्डव शान्त हैं और वैर-विरोधसे विमुख हैं। उनको अब क्रोधित करना ठीक नहीं है। यद्यपि यह बात आप जानते हैं, फिर भी मैं आपको याद दिलाती हूँ। दुर्बुद्धि पुरुषके चित्तपर शास्त्रके उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु आप वृद्ध होकर बालकोंकी-सी बात करें—यह अनुचित है। इस समय आप अपने पुत्रतुल्य पाण्डवोंको अपनाये रखें। कहीं वे दुःखी होकर आपसे विलग न हो जायँ। कुल-कलंक दुर्योधनको त्यागना ही श्रेयस्कर है। मैंने मोहवश उस समय विदुरजीकी बात नहीं मानी, उसीका यह फल है। शान्ति, धर्म और मन्त्रियोंकी सम्मतिसे अपनी विचारशक्तिको सुरक्षित रखिये। प्रमाद मत कीजिये। बिना विचारे काम करना आपके लिये बड़ा दुःखदायी सिद्ध होगा, राज्यलक्ष्मी क्रूरके हाथमें पड़कर उसीका सत्यानाश कर देती है।' गान्धारीके इन वाक्योंसे धर्म, नीति और निष्पक्षता टपकी पड़ती है। ये दुर्योधनको भी उसकी अनुचित कार्रवाइयोंपर बराबर टोकती रहती थीं,

उसकी उद्दण्डताके लिये उसे फटकारती थीं और उसकी अनीतिके भावी दुष्परिणामका भयंकर चित्र उसके सामने खींचा करती थीं। पर दुर्योधनके सिरपर काल जो नाच रहा था, वह उसे इन सबकी हितभरी बातोंपर ध्यान नहीं देने देता था।

पाण्डवोंकी ओरसे सन्धिका प्रस्ताव लेकर जब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुर गये और वे भी दुर्योधनको समझाकर हार गये तब धृतराष्ट्रने देवी गान्धारीको बुलाकर इनसे कहा कि 'अब तुम्हीं अपने पुत्रको समझाओ, वह हमलोगोंमेंसे तो किसीकी भी बात नहीं सुनता।' पतिकी यह बात सुनकर गान्धारीने कहा—'राजन्! आप पुत्रके मोहमें फँसे हुए हैं, इसलिये इस विषयमें सबसे अधिक दोषी तो आप ही हैं। आप यह जानकर भी कि दुर्योधन बड़ा पापी है, उसीकी बुद्धिके पीछे चलते रहे हैं। दुर्योधनको तो काम, क्रोध और लोभने अपने चंगुलमें फँसा रखा है। अब आप बलपूर्वक भी उसे इस मार्गसे नहीं हटा सकेंगे। आपने इस मूर्ख, दुरात्मा, कुसंगी और लोभी पुत्रको बिना कुछ सोचे-समझे राज्यकी बागडोर सौंप दी; उसीका आप यह फल भोग रहे हैं। आप अपने घरमें जो फूट पड़ रही है, उसकी उपेक्षा किये चले जा रहे हैं। ऐसा करके तो आप पाण्डवोंकी दृष्टिमें अपने-आपको हास्यास्पद बना रहे हैं। देखिये, यदि साम या भेदसे ही विपत्ति टाली जा सकती हो तो कोई भी बुद्धिमान् स्वजनोंके प्रति दण्डका प्रयोग क्यों करेगा?' गान्धारीकी यह युक्ति कैसी निर्भीक, निष्पक्ष, हितभरी, नीतिपूर्ण और सच्ची थी।

इसके बाद गान्धारीने अपने पुत्रको भी बुलाकर उसे समझाना

शुरू किया। ये बोलीं—'बेटा! मेरी बात सुनो। तुमसे तुम्हारे पिता, भीष्मजी, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और विदुरजीने जो बात कही है, उसे स्वीकार कर लो। यदि तुम पाण्डवोंसे सन्धि कर लोगे तो सच मानो—इससे पितामह भीष्मकी, तुम्हारे पिताजीकी, मेरी और द्रोणाचार्य आदि हितैषियोंकी तुम्हारे द्वारा बड़ी सेवा होगी। बेटा! राज्यको पाना, बचाना और भोगना अपने हाथकी बात नहीं है। जो पुरुष जितेन्द्रिय होता है, वही राज्यकी रक्षा कर सकता है। काम और क्रोध तो मनुष्यको अर्थसे च्युत कर देते हैं। इन दोनों शत्रुओंको जीतकर तो राजा सारी पृथ्वीको जीत सकता है। देखो—जिस प्रकार उद्दण्ड घोड़े मार्गमें ही मूर्ख सारथिको मार डालते हैं, उसी प्रकार यदि इन्द्रियोंको काबूमें न रखा जाय तो वे मनुष्यका नाश करनेके लिये पर्याप्त हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं और जो सब काम सोच-समझकर करता है, उसके पास चिरकालतक लक्ष्मी बनी रहती है। तात! तुम्हारे दादा भीष्मजीने और गुरु द्रोणाचार्यजीने जो बात कही है, वह बिलकुल ठीक है। वास्तवमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको कोई नहीं जीत सकता। इसलिये तुम श्रीकृष्णकी शरण लो। यदि वे प्रसन्न रहेंगे तो दोनों ही पक्षोंका हित होगा। वत्स! युद्ध करनेमें कल्याण नहीं है। उसमें धर्म और अर्थ भी नहीं है तो सुख कहाँसे होगा? यदि तुम अपने मन्त्रियोंके सहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवोंका जो न्यायोचित भाग है, वह उन्हें दे दो। पाण्डवोंको जो तेरह वर्षतक घरसे बाहर रखा गया, यह भी बड़ा अपराध हुआ है। अब सन्धि करके इसका मार्जन कर दो। तात! संसारमें लोभ करनेसे किसीकी सम्पत्ति नहीं मिलती। अतः तुम लोभ

छोड़ दो और पाण्डवोंसे सन्धि कर लो।' कैसा हितपूर्ण और मार्मिक उपदेश था। इससे पता चलता है कि गान्धारी विदुषी थीं तथा ये श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमा भी जानती थीं।

दुष्ट दुर्योधनपर गान्धारीके इस उत्तम उपदेशका कोई असर नहीं हुआ। उसने अपनी जिद नहीं छोड़ी। परिणाम यह हुआ कि दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ होने लगीं और अठारह दिनोंतक कुरुक्षेत्रके मैदानमें भीषण मार-काट हुई। युद्धके दिनोंमें दुर्योधन प्रतिदिन इनसे प्रार्थना करता कि 'माँ! मैं शत्रुओंके साथ लोहा लेने जा रहा हूँ; आप मुझे आशीर्वाद दीजिये, जिससे युद्धमें मेरा कल्याण हो।' गान्धारीमें पातिव्रत्यका बड़ा तेज था। ये यदि पुत्रको विजयका आशीर्वाद दे देतीं तो वह अन्यथा न होता। परन्तु ये देतीं कैसे? ये जानती थीं कि दुर्योधन अत्याचारी है। अत्याचारीके हाथमें कभी राज्यलक्ष्मी टिक नहीं सकती; इसीलिये ये हर बार यही उत्तर देतीं—'बेटा! जहाँ धर्म है वहीं विजय है। विजय चाहते हो तो धर्मका आश्रय लो, अधर्मका परित्याग करो।' इन्होंने दुर्योधनका कभी पक्ष नहीं लिया। परन्तु जब इन्होंने सुना कि मेरे सौ-के-सौ पुत्र मारे गये तब शोकके वेगसे इनका क्रोध उभड़ पड़ा और ये पाण्डवोंको शाप देनेका विचार करने लगीं। भगवान् वेदव्यास तो मनकी बात जान लेते थे। उन्हें जब इस बातका पता लगा तब उन्होंने गान्धारीके पास आकर इन्हें सान्त्वना दी और इनको असत्-संकल्पसे रोका। उस समय पाण्डव भी वहाँ मौजूद थे। माता गान्धारीके मनमें क्षोभ देखकर युधिष्ठिर उनके पास गये और अपनेको धिक्कारते हुए ज्यों ही उनके चरणोंपर गिरने लगे कि गान्धारीकी क्रोधभरी दृष्टि

पट्टीमेंसे होकर महाराज युधिष्ठिरके नखोंपर पड़ी। इससे उनके सुन्दर लाल-लाल नख उसी समय काले पड़ गये। यह देखकर अर्जुन तो श्रीकृष्णके पीछे खिसक गये तथा और भाई भी मारे भयके इधर-उधर छिपने लगे। उन्हें इस प्रकार कसमसाते देखकर गान्धारीका क्रोध शान्त हो गया और इन्होंने माताके समान पाण्डवोंको धीरज दिया। उपर्युक्त घटनासे गान्धारीके अनुपम पातिव्रत्य तेजका पता लगता है। अन्तमें गान्धारीने अपना क्रोध श्रीकृष्णपर निकाला अथवा यों कहना चाहिये कि अन्तर्यामी श्रीकृष्णने ही उनकी मति पलटकर पाण्डवोंको इनके कोपसे बचा लिया और इनका अभिशाप अपने ऊपर ले लिया। देवी गान्धारीने कुरुक्षेत्रमें जाकर जब वहाँका हृदयविद्रावक दृश्य देखा तो ये अपने शोकको सँभाल न सकीं। क्रोधमें भरकर श्रीकृष्णसे बोलीं—'कृष्ण! पाण्डव और कौरव अपनी फूटके कारण ही नष्ट हुए हैं; किन्तु तुमने समर्थ होते हुए भी अपने सम्बन्धियोंकी उपेक्षा क्यों कर दी? तुम्हारे पास अनेकों सेवक थे और बड़ी भारी सेना भी थी। तुम दोनोंको दबा सकते थे और अपने वाक्-कौशलसे उन्हें समझा भी सकते थे; परन्तु तुमने जान-बूझकर कौरवोंके संहारकी उपेक्षा कर दी। इसलिये अब तुम उसका फल भोगो। मैंने पतिकी सेवा करके जो तप संचय किया है, उसीके बलपर मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि जिस प्रकार परस्पर युद्ध करते हुए कौरवों और पाण्डवोंकी तुमने उपेक्षा कर दी, उसी प्रकार तुम अपने बन्धु-बान्धवोंका भी वध करोगे और स्वयं भी अनाथकी तरह मारे जाओगे। आज जैसे ये भरतवंशकी स्त्रियाँ आर्तनाद कर रही हैं,

उसी प्रकार तुम्हारे कुटुम्बकी स्त्रियाँ भी अपने बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेपर सिर पकड़कर रोयेंगी।'

गान्धारीके ये कठोर वचन सुनकर महामना श्रीकृष्ण मुसकराये और बोले—'मैं तो जानता था कि यह बात इसी तरह होनेवाली है। शाप देकर तुमने होनीको ही बतलाया है। इसमें सन्देह नहीं, वृष्णिवंशका नाश दैवी कोपसे ही होगा। इसका नाश भी मेरे सिवा और कोई नहीं कर सकता। मनुष्य क्या, देवता या असुर भी इनका संहार नहीं कर सकते। इसलिये ये यदुवंशी आपसके कलहसे ही नष्ट होंगे।'

युधिष्ठिरके राज्याभिषेकके बाद देवी गान्धारी कुछ समयतक उन्हींके पास रहकर अन्तमें अपने पतिके साथ वनमें चली गयीं और वहाँ तपस्वियोंका-सा जीवन बिताकर तपस्वियोंकी भाँति ही इन्होंने अपने पतिके साथ दावाग्निसे अपने शरीरको जला डाला और पतिके साथ ही कुबेरके लोकमें चली गयीं। इस प्रकार पतिपरायणा गान्धारीने इस लोकमें पतिकी सेवाकर परलोकमें भी पतिका सान्निध्य एवं सेवा प्राप्त की—जो प्रत्येक पतिव्रताका अभीष्ट लक्ष्य होता है। प्रत्येक पतिव्रता नारीको गान्धारीके चरित्रका मनन कर उससे शिक्षा लेनी चाहिये।

❑❑